योग एक चिन्तन

बत्तीस योगों की विस्तृत व्याख्या

लेखक

पंजाब-प्रवर्तक उपाध्याय

श्रमण श्री फूलचन्द्र

सम्पादक

श्री तिलकधर शास्त्री

साहित्य-रत्न, साहित्यालंकार

प्रकाशक

आचार्य श्री आत्मा राम जैन प्रकाशन समिति

जैन स्थानक, लुधियाना

※ पुस्तक

योग एक चिन्तन

※ लेखक

उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द्र

※ सम्पादक

श्री तिलकधर शास्त्री

※ प्रकाशक

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक लुधियाना

※ मुद्रक

आत्म जैन प्रिंटिंग प्रेस
३५० इण्डस्ट्रियल एरिया-ए
लुधियाना-३

※ संस्करण

प्रथम (२३ सितम्बर १९७७)
एक हजार

※ मूल्य

पाच रुपए

जैन-धर्म-दिवाकर जैनागम-रत्नाकर आचार्य-सम्राट

श्रद्धेय श्री आत्माराम जी महाराज के शिष्य-रत्न

महामहिम शासन-प्रभावक तरुण तपस्वी

श्री खजान चन्द जी महाराज

सविनय समर्पित

जिनके कृपा-प्रसाद को पाकर मैं
विरक्ति के विमल मार्ग पर पहुंचा,
जिनकी ज्ञान-गरिमा से मैं
स्वाध्यायशीलता के
सुखद सदन में आसीन हुआ
जिनकी ओजस्विनी प्रतिभा ने
मुझे योग मार्ग मे प्रवृत्त किया
उन्हीं परम श्रद्धेय
स्वर्गीय गुरुदेव
श्री खजानचन्द जी महाराज को
सादर समर्पित

फूलचन्द्र श्रमण

श्रद्धा-वन्दन

हे श्रमण - श्रेष्ठ ! विद्वद्वरेण्य !
मुनिराज सयमाधीश विभो !
योगेश ! प्रवर्तक - पद - मण्डित !
श्री फूलचन्द्र जी ! परम प्रभो !

हे अमर मुनीश्वर ! जन - जन के,
शुभ भाव-पुष्प स्वीकार करे।
हे महामहिम ! मेरे वन्दन—
कर स्वीकृत जग उद्धार करे।

'यह 'तिलक' चरण-अनुरागी है।
शुभ हार्दिक श्रद्धा जागी है,
श्रद्धा - वन्दन स्वीकार करे !
जिन - सस्कृति का शृंगार करे।

'तिलक'

प्रकाशकीय

'आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति' अनेक वर्षों मे स्वर्गीय आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की हार्दिक अभिलाषा की पूर्ति के लिये आगमो का, जैन सस्कृति के विविध पक्षो पर प्रकाश डालने वाले मौलिक साहित्य का एव विविध स्तोत्रो आदि का साहित्य-प्रेमी दानवीरो के सहयोग से प्रकाशन कर रही है। यह प्रकाशन अपना विशेष महत्त्व रखते है, क्योकि इनमे स्वर्गीय आचार्य श्री की सरल एव सरस भाषा मे जन-जीवन के उद्धार के लिये उपयोगी ज्ञान-निधि सुरक्षित है।

लुधियाना का यह परम सौभाग्य है कि यहाँ पण्डित-रत्न श्री हेमचन्द्र जी महाराज, पजाव-प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द्र जी महाराज, एव करुणा-मूर्ति विद्वद्रत्न श्री रतन मुनि जी महाराज विराजमान होकर स्वर्गीय आचार्य श्री की ज्ञाननिधि को प्रकाशित करने की सवल प्रेरणा तो देते ही रहते है, साथ ही अपने चिन्तन-पुष्पो से समाज को लाभान्वित भी कर रहे है।

उपाध्याय श्री जी की लेखनी एक ऐसी स्रोत-स्थली है जहा से ज्ञान-गगा का पीयूप-प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होकर जन-जन को अक्षय शान्ति प्रदान करता रहता है। वे अपनी ज्ञानमयी अभिव्यक्ति के द्वारा जैन साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे है।

"योग एक चिन्तन" यह एक सर्वथा अभिनव रचना है। इसमे उपाध्याय जी महाराज ने योग-साधना की पूर्णता के लिये जिन आवश्यक साधनो की अनिवार्यता है उनका विशद साङ्गोपाङ्ग

विवेचन किया है।

जहा यह ग्रन्थ योग-साधना के पथिक जिज्ञासुओ के लिये उपयोगी है वहा जैन सस्कृति का विशद परिचय प्राप्त करने वालो के लिये भी अत्यन्त सहायक है।

उपाध्याय श्री जी तो स्वय महान् योगी हैं, अत उनकी लेखनी ने उन अनुभूतियो को विशेष रूप से व्यक्त किया है जो उन्होने स्वय इस मार्ग पर चलते हुए प्राप्त की हैं, अत. यह ग्रन्थ योग-साधना के अनुभूत सत्यो की अभिव्यक्ति करने वाला एक ऐसा प्रकाश-दीप है जिस मे प्रत्येक व्यक्ति अभीष्ट प्रकाश प्राप्त कर सकता है।

समिति को सौभाग्य से श्री तिलकधर शास्त्री साहित्य-रत्न साहित्यालकार जैसे विद्वान् मिल गए है, उनकी विद्वत्ता एव कलात्मक प्रतिभा समिति के प्रकाशनो को सुन्दर रस दे रही है, अत समिति उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

अन्त में हम लुधियाना निवासी श्री रतनचन्द ओसवाल के सुपुत्र श्रीयुत श्रीपाल जी ओसवाल की धर्मपत्नी श्रीमती शकुन (कुन्ता देवी) का हार्दिक धन्यवाद करते है जिनके द्वारा दिये गए अर्थ-सहयोग से यह पुस्तक प्रकाशित हो सकी है। हम आशा करते है कि श्री रतनचन्द जी ओसवाल के परिवार की ओर से भविष्य मे भी हमे ऐसी रचनाओ के प्रकाशन के लिये सहयोग प्राप्त होता रहेगा। हम इन्हो शब्दों के साथ यह ग्रन्थ पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करते है।

निवेदक

टी. आर. जैन, प्रधान — राजकुमार जैन, मन्त्री

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति,

जैनस्थानक, लुधियाना।

स्वकथ्य

योग-साधना के प्रति मेरा रुझान साधक जीवन के प्रथम चरण मे ही उत्पन्न हो गया था, क्योकि चित्त-वृत्तियो का निरोध करके मैं अन्तर्जगत् के रहस्यो को जानना चाहता था, साधना भी बढती गई और जिज्ञासाओं का विस्तार भी होता गया।

जिज्ञासा अपूर्ण रहे यह असह्य सा होता है, अत मै जिज्ञासा-पूर्ति के लिये स्वाध्याय करता रहा, पतञ्जलि के योग-दर्शन का आद्योपान्त मनन करते हुए तदनुसार कुछ करने का प्रयास भी किया, श्रद्धेय आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणो मे बैठ कर ध्यान-सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाओ की पूर्ति भी की, परन्तु जिज्ञासा अब भी प्रश्न-चिन्ह को पकड कर मेरे सामने खडी रहती है। मै भी उसके नव-नव समाधानो के अन्वेषणार्थ यत्नशील रहता हू और यत्नशील रहूगा।

समवायाग सूत्र का अध्ययन करते हुए मैंने जब बत्तीस योगो का नामोल्लेख देखा तो मेरे हृदय ने चिन्तन-सागर की अतल गहराइयो को छूते हुए पतजलि के योग-मार्ग और बत्तीस योगो के समन्वयात्मक अध्ययन से कुछ परितोष का अनुभव किया, जैसे-जैसे समन्वय के पथ पर मेरे चिन्तन की धारा बढती गई वैसे-वैसे विश्वास होता गया कि महर्षि पतजलि ने प्रकारान्तर से इन्ही बत्तीस योगो की व्याख्या करते हुए सूत्र-शैली में चित्तवृत्तियो को निरुद्ध कर शान्ति प्राप्त करने के पथ का ही निर्देश किया है।

तभी से मेरी यह भावना प्रबल हो उठी थी कि इन बत्तीस योगो की विस्तृत व्याख्या करु, किन्तु कार्य की कठिनता, समय के अभाव और अनेक अन्तरायो के कारण यह कार्य कुछ विलम्ब से ही हो पाया है, फिर भी मुझे सन्तोष है कि अपने कथ्य एव मन्तव्य को जन-जन तक पहुंचाने की अपनी भावना को मैने साकार कर दिया है।

विषय अत्यन्त गहन एवं विस्तृत था, फिर भी मैंने यथा-शक्य यह प्रयास किया है कि विषय कही भी दुरूह न रह जाए, साकेतिक भी न रह जाय और अस्पष्ट भी न रहे। इसी बात को लक्ष्य मे रख कर मैंने अपने कर्तव्य की पूर्ति कर दी है, पाठको ने यदि इस प्रयास से ज्ञानद्रुम का एक पुष्प भी प्राप्त कर लिया तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन-कार्य में मुझे विद्वद्रत्न श्री रतन मुनि जी महाराज द्वारा जो उचित सहयोग प्राप्त हुआ है उस के लिए मैं उनका हार्दिक धन्यवादी हूं।

इस पुस्तक के सम्पादन मे 'आत्म-रश्मि' के सम्पादक श्री तिलकधर शास्त्री का सहयोग प्रशस्त रहा है, उन्ही के श्रम से पुस्तक की साज-सज्जा भी मनोहारी बन पाई है। उनके लिये जो कहना चाहिये वह मेरा अन्त.करण कर रहा है।

फूलचन्द्र श्रमण
उपाध्याय

लुधियाना
२३ सितम्बर १९७७
भाद्रपद शुक्ला द्वादशी
सं २०३४

● श्री तिलकधर शास्त्री

योग एक चिन्तन : मेरी अनुभूति

"योग एक चिन्तन" जब यह शीर्षक मैंने पढा तो मैंने अपनी पूर्व धारणा के अनुसार यही समझा कि प्रस्तुत पुस्तक मे 'योग-साधना' कैसे की जाय ? इसका ही विशद विवेचन होगा, परन्तु जैसे ही "**बत्तीसं जोग संगहा पण्णत्ता**" पढ कर बत्तीस योगो के नाम पढे तो तुरन्त मेरी धारणा बदल गई और मै एक अन्य दृष्टि-कोण लेकर पुस्तक का स्वाध्याय करने लगा। पढते-पढते जहां पहुचा हू वह अत्यन्त अद्भुत है—आनन्दकारी है और जो अन्यत्र सक्षेप मे है यहां उसे विस्तार मे पाया और साथ ही सर्वत्र जो अज्ञेय और अबूझ रहा वह यहा आकर ज्ञेय और स्पष्ट हो गया।

'योग' शब्द ने कब कहा से अर्थबोध की यात्रा आरम्भ की है ? और इस शब्द से किसने क्या समझा है ? यह कहना अत्यन्त कठिन है, क्योकि ध्यान-योग, कर्म-योग, हठ योग, अध्यात्म-योग साख्य योग, ज्ञान-योग आदि शब्दो मे योग शब्द अलग-अलग अर्थों का बोध करा रहा है।

योग शब्द के अर्थ जानने से पहले इसका इतिहास जानना आवश्यक होगा, किन्तु योग शब्द के अर्थ-ज्ञान के बिना इतिहास का जानना असम्भव होगा, अत सर्वप्रथम योग शब्द के अर्थ पर थोडा विचार कर लेना चाहिये, जिससे पुस्तक का समग्र विषय बोध-गम्य हो सके।

योग शब्द प्राय ध्यान-योग के अर्थ मे ही अधिकतर प्रयुक्त हुआ है। महर्षि पतञ्जलि का योग-दर्शन ध्यान-योग की ही आद्योपान्त व्याख्या है। पतञ्जलि ने योग शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—"योगश्चित्तवृत्ति-निरोध." अर्थात् चित्त की विचार-धाराओ को निरुद्ध कर देना ही योग है। योग की यह व्याख्या ईसा से दो सौ वर्ष पहले की गई थी, किन्तु ध्यानावस्थित साधको की अनेक मूर्तिया हड़प्पा और मोहनजोदडो मे उपलब्ध हुई है, अतः ज्ञात होता है कि ध्यान-योग की प्रक्रिया से उस काल का मानव भी परिचित हो चुका था जिसे आज के ऐतिहासिक एवं पुरातत्त्व-वेत्ता प्रागैतिहासिक काल कहते है।

श्री कृष्ण का काल ईसा से ३००० वर्ष पूर्व माना गया है, कुछ ऐसे विद्वान् भी है जो श्रीकृष्ण को २२००० वर्ष पूर्व का महापुरुष स्वीकार करते है। उन्होंने गीता मे साख्य योग कर्म-योग भक्ति-योग आदि शब्दो का उल्लेख किया है। मालूम होता है श्री कृष्ण के समय तक योग शब्द पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुका था। श्री कृष्ण ने योग शब्द के मुख्यत दो अर्थ किए है—"योग. कर्मसु कौशलम्"—कर्म करने मे कुशलता ही योग है और "समत्व योग उच्यते'—समता की साधना ही योग है।

श्री कृष्ण पर भगवान् नेमिनाथ का प्रभाव चाहे सर्वमान्य न हो, परन्तु जैन सस्कृति को अवश्य मान्य है, क्योकि समवायाग सूत्र मे प्रतिपादित "समदिट्ठी" शब्द उस समत्व का ही प्रतिपादक है जिसे श्री कृष्ण ने योग कहा है।

योग शब्द का कर्म-कौशल अर्थ भी जैन सस्कृति को मान्य प्रतीत होता है, क्योकि यहा मन, वचन और शरीर के कार्य-व्यापारो को योग माना गया है। मन के कार्यव्यापार को, वचन

के कार्य-व्यापार को और काया के व्यापार को इस प्रकार अप्रमत्त होकर करना चाहिये जिससे कि उनके द्वारा पापकर्म मे प्रवृत्ति न हो सके। यही तो कर्म की कुशलता है। अत "कर्म कौशल" योग के इस अर्थ पर भी जैनत्व की छाप स्पष्ट है।

पतंजलि के योगदर्शन पर जैनत्व की छाप

पतञ्जलि का चित्तवृत्तिनिरोध भी अन्तत. समाधिरूप ही तो है, क्योकि चित्तवृत्तियो के निरुद्ध होने पर. अन्तत चित्त देश विशेष मे बध जाता है, यही तो पतञ्जलि की धारणा है (देश-बन्धश्चित्तस्य धारणा—३।१) उस देशविशेष मे जब चित्त ध्येय-मात्र पर स्थिर हो जाता है, तब उसे ध्यान कहा जाता है (तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ३।२) और जब ध्यान ही ध्येय के रूप मे भासित होने लगता है उसे समाधि कहा जाता है (तदेवार्थमात्र-निर्भास समाधि ३।३) यह समाधि भी जैन दर्शन मे योग सज्ञा प्राप्त करती है, अत समाधि को भी बत्तीस योगो मे स्थान दिया गया है।

योग शब्द का अर्थ "जोड" सर्व मान्य है। इस अर्थ की दृष्टि से यदि योग को जाना जाय तो हम कह सकते है कि योग के लिये दो का होना आवश्यक है, एक मे योग नही हो सकता, योग दो की ही अपेक्षा करता है। योग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा चित्त वृत्तियो को मन के व्यापारो को और शारीरिक चेष्टाओ को बाहर से तोड कर आत्मा के साथ जोडा जाता है, इधर से तोडना और उधर जोडना योग का प्रधानतम लक्ष्य है। योग नीचे को छोड कर ऊपर से जोडता है, उस अवस्था मे पहुचा देता है जहा केवल ज्ञान मात्र शेष रह जाता है और कुछ

बचता ही नहीं, न ज्ञेय और न ज्ञाता, केवल ज्ञान ही रह जाता है।

इस अवस्था मे चित्तवृत्तिया तो रहती ही नही है, वे निरुद्ध हो जाती है, अत केवल आत्मानुभूति ही शेष रह जाती है, इसीलिये अनेक विचारक योग को विचार न कह कर अनुभूति कहते हैं।

योग उस आध्यात्मिक प्रक्रिया को भी कहा जा सकता है जो योग को तोड देती है। केवल एक को रहने देती है। जैसे यदि कोई व्यक्ति धन को पाना चाहता है तो उसे लोभ कहा जाता है, लोभी का ध्यान सदा धन पर रहता है।

यदि कोई त्यागी धन को त्यागना चाहता है तो उसका ध्यान भी धन पर ही केन्द्रित रहता है, वह सदा अप्रमत्त भाव से धन से बचने की कोशिश करता रहता है। लोभी और त्यागी दोनो का ध्येय धन ही है। युद्ध-भूमि में योद्धा का ध्यान शत्रु पर ही रहता है, त्यागी धन को शत्रु समझता है, अत उससे बचने के लिये वह उस पर ही सावधानी से निगाह रखता है। योग के लिये निर्लोभता और त्याग (अलोभ और सवेग) शब्दो के प्रयोग का यही तात्पर्य है। योग लोभी के मन और धन के योग को समाप्त कर देता है। सच्चा योगी संचय और त्याग दोनो से मुक्त होकर स्व-स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है। इसी को योग-दर्शन मे सयम कहा गया है। सयम मे ध्याता ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी एक हो जाता है, धारणा ध्यान और समाधि मे एक रूपता हो जाती है (त्रयमेकत्र सयम. ३।४)।

वस्तुत पतञ्जलि का योग-दर्शन जैन सस्कृति मे प्रतिपादित

बत्तीस योगो की व्याख्या मात्र है। योग-दर्शन का विषय-प्रतिपादन इसका साक्षी है। योगावस्था मे क्या होता है? पतंजलि उत्तर देते है—"तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्—तब द्रष्टा अर्थात् आत्मा अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है। स्वरूपावस्थान ही तो जैन सस्कृति का प्रमुख स्वर है।

चित्त-वृत्तियो के निरोध का उपाय क्या है? पतजलि के शब्दो मे "अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध. (१।१२)। अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्तियो का निरोध होता है। यह अभ्यास क्या है (तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास १।१३)—यतना ही अभ्यास है, यह यतना शब्द और यतना की साधना की प्रमुखता जैन सस्कृति का ही उद्घोष है। 'वैराग्य' तो जिन-सस्कृति का आधार भूत तत्त्व है।

योग-दर्शन उस असम्प्रज्ञात समाधि को प्रमुखता देता है जिसमें आत्म-अवस्थिति और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस असम्प्रज्ञात समाधि की ओर यात्रा सवेग से आरम्भ होती है। सवेग जैन संस्कृति का अपना शब्द है। पतजलि भी कहते है तीव्रसवेगानामासन्न (१।२१) तीव्र सवेगवालो को असम्प्रज्ञात समाधि सुलभ हो जाती है।

योग-दर्शन ने असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिये 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' कह कर 'ईश्वर के ध्यान को कारण माना है, परन्तु कोई ईश्वर को ब्रह्मा, विष्णु या शिव जैसा देवता न मान ले, यह सोचकर अगले ही सूत्र मे स्पष्टीकरण करते हुए पतञ्जलि कहते हैं—"क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष-विशेष ईश्वर."—जो भी विशेष पुरुष—महापुरुष क्लेशो से दूर हो चुका है, कर्म और कर्म के सस्कारो से मुक्त हो चुका है वही ईश्वर है—यह ईश्वर

जैन संस्कृति के 'सिद्धों' की ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए योग-दर्शन कहता है "तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम् (१।२) ईश्वर मे निरतिशय ज्ञान है, जितना ज्ञान हो सकता है वह सब उसमे होता है, अत उसे सर्वज्ञ कहते है। क्या 'सर्वज्ञ' अरिहन्त का—तीर्थङ्कर का परिचायक प्रसिद्ध शब्द नही है।

'अन्तराय' यह जैन संस्कृति का जाना-पहचाना शब्द है। समाधि मे अन्तराय क्या है? यह बताते हुए पतजलि ने ३०वें सूत्र मे व्याधि, स्त्यान (कर्म-असामर्थ्य), सशय, प्रमाद, आलस्य अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व (चित्त की अस्थिरता) अनवस्थितत्त्व इन नौ को अन्तराय अर्थात् विघ्न-कारक बताया है। 'योग एक चिन्तन' का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि जैन संस्कृति ने इसी प्रकार के अनेक अवगुणो को साधना मे विघ्न करने वाले कहा है।

'वीतराग-विषय वा चित्तम्'—इस सूत्र का 'वीतराग' शब्द जैन संस्कृति की ही तो देन है, क्योकि तीर्थङ्कर न राग मे रहते हैं, न विराग मे रहते है, वे दोनो से मुक्त होते हैं, अत उन्हे वीतराग कहा जाता है। वीतराग का ध्यान चित्त का प्रसादन करता है—उसमे साधना का उत्साह जागृत करता है, क्या यह जैन संस्कृति ही नही बोल रही है।

साधन-पाद में पतजलि ने योग की सिद्धि के लिये जो साधन बताए हैं वे हैं—तप, स्वाध्याय, ईश्वर अर्थात् सिद्धो का ध्यान।

द्वितीय पाद के तीसवे सूत्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन्हे यम कहा गया है और इकत्तीसवे सूत्र मे इन्हे—

'एते जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्"
कह कर अहिंसा आदि को सार्वभौम महाव्रत कहा गया है और उन्हे सभी देशो सभी जातियो और सभी कालो के लिये आराधनीय कहा है।

नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान को लिया गया है। ३३ वे सूत्र मे हिंसा के कृत, कारित, अनुमोदित रूप की चर्चा की गई है। इत्यादि समस्त वर्णन इस बात को प्रमाणित करता है कि पतजलि योग के क्षेत्र मे भगवान महावीर से तीन सौ वर्ष बाद उनकी शब्दावली और उनकी ध्यान-प्रक्रिया से प्रभावित्त हुए और उन्होने उन्ही की साधना-पद्धति का आश्रय लेकर योग-दर्शन की रचना की।

प्रस्तुत पुस्तक मे उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द्र जी महाराज ने बत्तीस योगो की जो क्रमबद्ध व्याख्या की है वह व्याख्या योग-दर्शन की शैली मे दृष्टिगोचर होती है, अत जो साधक योगी बनना चाहता है, उसके लिये प्रस्तुत पुस्तक का क्रमबद्ध स्वाध्याय उपयोगी होगा यह निश्चित है।

ध्यान-योग

पतञ्जलि का योग-दर्शन ध्यानयोग का समग्र रूप है। ध्यान साधना के क्षेत्र का प्राण है। कोई भी साधक इसके बिना साधना मार्ग पर सफलता प्राप्त नही कर सकता। विश्व मे जितने भी अध्यात्म का आधार लेकर चलने वाले सम्प्रदाय है, उनमे अनेक सैद्धान्तिक मत-भेद हैं, किन्तु ध्यान मे कही किसी का कोई मतभेद नही है। सभी धर्म-सम्प्रदायो को ध्यान मान्य है।

यह विकासशील मानव जैसे-जैसे बाह्य ससार मे बढता

गया वैसे वैसे वह अन्तर से दूर हटता गया है। यह आत्मा को पीछे छोड कर बहुत आगे बढ गया है। अब वह वापिस लौटना चाहता है—प्रतिक्रमण चाहता है, परन्तु प्रतिक्रमण उसे कौन सिखाए? प्रतिक्रमण तो जैन संस्कृति के सिवा अन्यत्र कही है ही नही। प्रतिक्रमण की पूर्णता ध्यान के बिना नही हो सकती, क्योकि ध्यान अन्दर की गहराइयो मे ले जाने की सफल प्रक्रिया है। जो वृक्ष बहुत ऊचा उठना चाहता है उसे अपनी जडे पृथ्वी के भीतर बहुत गहरे ले जानी होती हैं, जिस वृक्ष की जड़े जितनी गहरे मे जाएगी वह उतना ही अधिक आकाश मे ऊचा उठ सकेगा।

मनुष्य भी यदि ऊपर उठना चाहेगा तो उसे ध्यान के द्वारा अन्तर की गहराइयों से सम्बन्ध जोडना होगा, तभी वह सिद्धत्व की ऊचाइयो तक पहुंचने का अधिकारी बन सकता है। यही कारण है कि ध्यानयोग को यहा प्रमुखता दी गई है।

वस्तुत ध्यान मानव का स्व-भाव है, इससे मनुष्य को 'होने' का अपने अस्तित्व को जानने का सुख प्राप्त होता है, किन्तु ध्यान ऐसी आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसे करके ही जाना जा सकता है, इसे जानकर किया नही जा सकता।

विश्व के सभी सम्प्रदायो ने जो ध्यान की विधिया बताई हैं उनकी संख्या ११२ बताई गई है। एक सौ बारह ध्यान के विशेष प्रकार हैं। देश काल एव पात्र की योग्यता को देखकर वे शिष्यो को सिखाए जाते हैं।

भगवान बुद्ध ने योग के स्थान पर समाधि शब्द का प्रयोग किया है और उनकी दृष्टि मे हृदय का संशय-रहित होना और मन, वचन एव काया का सन्तुलन ही योग अथवा ध्यान है। मन, वचन और काया का सन्तुलन होने पर ही चित्त-स्थैर्य प्राप्त होता

है और चित्त की स्थिरता मे ही समाधि है—आत्म-स्वरूप-अवस्थिति है।

योग-दर्शन जिसे चिति-शक्ति कहता है जैन सस्कृति मे वही आत्मा है, योग-दर्शन उसे अप्रतिसक्रमा अर्थात् परिणाम-रहित कहता है। जैन दर्शन भी आत्मा को अपरिणामी मानता है, अत. ध्यानावस्था मे आत्म चिन्तन की ही प्रधानता रहती है।

जैन दर्शन का वैशिष्ट्य—

योग-दर्शन मे कही भी ध्यान के भेदो का वर्णन नही किया गया। जैन दर्शन ने ही उसे चार भागो मे विभक्त किया है। जैसे कि आर्तध्यान, रौद्र ध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान। ये शब्द इतने मनोवैज्ञानिक एव अध्यात्म-पथ प्रदर्शक है कि इनके अपनाए विना पतजलि भी नही रह सके। उन्होने इन्ही शब्दो को कुछ परिवर्तन के साथ अपनाया है। आर्तध्यान और रौद्र ध्यान, अशुभ ध्यान हैं, अत इन्हे योगदर्शन कृष्ण कहता है और धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान शुभ है इन्हे शुक्ल कहा गया है और आत्मा को अशुक्ल अकृष्ण कहा गया है। (योग० ४।७)

योगदर्शन मे ध्यान की विस्तृत परिभाषाएं है, उसके क्रमिक विकास पर अच्छा प्रकाश डाला गया है, किन्तु ध्येय-स्थिरता के लिये ध्येय का विवेचन नगण्य सा रहा है। योगी ध्यान की एकतानता तक पहुचने के लिये क्या करे? इसका विवेचन वहां सामान्य सा ही है—जैसे प्रणव अर्थात् ॐकार के ध्यान के साथ "**तज्जपस्तदर्थ-भावनम्**" (योग० १।२८) कह कर ॐ के जप और अर्थ की भावना भाने के लिये कहा गया है, किन्तु इतने मात्र से ध्यान की एकतानता असम्भव है।

हेमचन्द्राचार्य जी ने भी अपने योगशास्त्र मे इस विषय पर

विशेष प्रकाश नहीं डाला, उन्होंने भी ध्यान तक पहुंचने के साधना-मार्ग का विस्तृत विवेचन किया है किन्तु ध्यान की एकतानता के लिये कुछ प्रदर्शित नहीं किया।

प्रस्तुत पुस्तक मे उपाध्याय श्री श्रमण जी महाराज ने ध्यान की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन करते हुए ध्येय की भी विस्तृत व्याख्या की है। पिण्डस्थ धर्म-ध्यान, पदस्थ धर्म-ध्यान, रूपस्थ-धर्म-ध्यान और रूपातीत-धर्म-ध्यान की व्याख्या के माध्यम से ध्यान की विधि का जो वर्णन किया है उसको जानकर कोई भी साधक ध्यान का पूर्ण अभ्यास कर सकता है। शुक्ल ध्यान की व्याख्या मे योगदर्शन के कैवल्यपाद का समस्त विषय संक्षेप मे बुद्धिगम्य हो जाता है। योगदर्शन की सवितर्क-समाधि और अवितर्क-समाधि चाहे समझ मे न आए, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक के के द्वारा शुक्लध्यान के अन्तर्गत पृथक्त्व-सविचारी, पृथक्त्व-अविचारी, सूक्ष्म-क्रिया-अनिवर्ती, समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती— इन चार पदो की व्याख्या समाधि को सहज गम्य बना देती है।

तन्त्रशास्त्र मे ध्यान के चार भेदो का वर्णन किया गया है— वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा।

वैखरी—अन्तर के आनन्द को वाणी द्वारा प्रकट करना।

मध्यमा—अन्तर के आनन्द को कुछ वाणी द्वारा व्यक्त करना और कुछ भीतर ही रहने देना।

पश्यन्ती—यही ध्यान की अवस्था है इसमे योगी उसे देखता है जो उसका अपना स्वरूप है, जिस स्वरूप से भ्रष्ट होकर वह बाह्य ससार मे उलझ गया है, यही से चेतना की प्रकाशमयी धारा फूटकर आत्मा को सर्वज्ञता की ओर उन्मुख करती है।

परा—यह वही अवस्था है जो सबसे परे है, जिसके आगे कुछ नही, सब पीछे ही छूट जाता है, कषाय-मुक्त, अयोगी केवली अवस्था ही ध्यान की परा अवस्था है।

मैं समझता हू तन्त्र भी जैन दर्शन से प्रभावित हुआ होगा। उसमे नौवे गुणस्थान से लेकर तेरहवे गुण स्थान तक की स्थितियो को ही वैखरी आदि नाम देकर ध्यान का विवेचन किया गया है।

वस्तुत. 'योग' अनेक साधनाओ का जोड है। इसमे उन अनेक साधनाओ का ही बत्तीस योगो के विवेचन के रूप मे क्रमिक विकास प्रदर्शित किया गया है।

योगासन—

यद्यपि नाथ योगियो ने हठयोग को अपनाते हुए चौरासी आसनो का वर्णन किया है, जैसे पद्मासन, भद्रासन, शवासन, हलासन, उत्तानपाद आसन, वीरासन, स्वस्तिकासन, गोदुहासन, कुक्कुटासन, हस्तिनिपन्दन आदि। नाथो ने आत्मतत्त्व की अपेक्षा शरीर साधना को विशेष महत्त्व दिया है, किन्तु यह स्मरणीय है कि आत्मतत्त्व शरीर से सर्वथा भिन्न है, शरीर निवास है, और आत्मा निवासी है। निवासी निवास चाहता है, वह झोपड़ी मे, कच्चे मकान मे, हवेली मे, कोठी मे, महल मे जहा भी उसे सुख मिले वही रह सकता है। वस्तुत. मन विपरीतता से ही प्रसन्न होता है, झोपडी वाला महल मे जाकर प्रसन्न होता है, किन्तु महलो वाले राजा-महाराजा झोपडियो मे जाकर साधना करते देखे जाते हैं। वनवासी नगरो मे आकर और नगरवासी वनो मे जाकर सुख की अनुभूति करते है। वस्तुत सुख न महल मे है, न

झोपडी में है, न नगर मे है, न वन मे है। सुख की प्रतीति तो वदलाव मे होती है।

शरीर से सम्वन्ध तोडकर आत्मा से सम्वन्ध जोडने मे योग की पूर्णता है, जव योग शरीर से सम्वन्ध ही तोड देता है तो उसे शरीर की अपेक्षा ही नही रह जाती, फिर शारीरिक मुद्राओ की—आसनो की वह अपेक्षा क्यो रखेगा ? ज्ञान की प्राप्ति आसनो पर ही निर्भर होती तो वह सरकसवालो को शीघ्र प्राप्त हो जाता, क्योकि वहा एक ही कलाकार अनेक असाध्य आसनो का प्रदर्शन करता है।

तीर्थङ्करो और महा साधको ने विभिन्न आसनो में वैठकर ज्ञानोपलव्धि की है। भगवान् महावीर गोदुहासन मे वैठ कर ज्ञान प्राप्त करते हैं। गजसुकुमाल कायोत्सर्ग मुद्रा मे ज्ञान प्राप्त करते हैं। वस्तुत 'आसन' का कोई महत्त्व नही है। इसीलिये पतञ्जलि ने कहा "तत्र स्थिर सुखमासनम्' —जिसमे शरीर सुखपूर्वक अवस्थिति प्राप्त करे वही आसन है।

यही कारण है पतञ्जलि ने योगासनो की व्याख्या नही की। योगनिष्ठ श्री श्रमण जी महाराज ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ मे आसनो को महत्त्व नही दिया, उसका वर्णन आवश्यक नही समझा।

उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द्र जी स्वय योगी है, योगनिष्ठ महापुरुष है, योग-साधना उनकी अन्त -अनुभूति है, उसी अनुभूति को उन्होने शव्दात्मक रूप देकर साधको और जैन सस्कृति के जिज्ञासुओ पर महान् उपकार किया है। उनका यह उपकार सर्व-जन-मगलकारी हो यही मेरी भावना है। ●

अनुक्रम

(क)	वत्तीस योग	१
(ख)	योग-प्रवेग	५
१	आलोचना	६
२	निरवलावे निरपलाप	२१
३.	दृढधर्मता	२३
४	अनिश्रितोपधान	२६
५	शिक्षा	२८
६.	निष्प्रतिकर्मता	३१
७	अज्ञातता	३३
८	अलोभ	३५
९	तितिक्षा	३७

१० आर्जव ३६
११ शुचि ४१
१२ सम्यग्दृष्टि ४८
१३ समाधि ५४
१४ आचार ६४
१५ विनयोपेत ६८
१६ धृतिमति ८०
१७ संवेग ८२
१८ प्रणिधि ८४
१९ सुविधि ८६
२० संवर ८९
२१ आत्म-दोषोपसंहार १०३
२२ सर्व-काम विरक्तता १०६
२३ मूलगुण-प्रत्याख्यान ११०
२४ उत्तरगुण-प्रत्याख्यान १३५
२५ व्युत्सर्ग १५०
२६ अप्रमाद १५३
२७ लवालव १५७
२८ ध्यान-संवर-योग १६७
२९ उदय मारणान्तिक १९५
३० संग-परित्याग १९७
३१ प्रायश्चित्त-करण २००
३२ मारणान्तिक आराधना २०८
(क) परिशिष्ट (मानव-धर्म) २३६
(ख) दैवी सम्पत्ति २५५

जैन-धर्म-दिवाकर पंजाब प्रवर्तक उपाध्याय

श्रमण श्री फूलचन्द्र जी महाराज

योग : एक चिन्तन

● ● ●

वत्तीस जोग-संगहा पण्णत्ता, तं जहा :—

आलोयण निरवलावे, आवईसु दढधम्मया ।
अणिस्सिओवहाणे य, सिक्खा निप्पडिकम्मया ॥१॥

अण्णायया अलोभे य, तितिक्खा अज्जवे सुई ।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओवेए ॥२॥

धिइमई य संवेगे, पणिही सुविहि-संवरे ।
अत्तदोसोव - संहारे, सव्वकाम-विरत्तया ॥३॥

पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमादे लवालवे ।
झाण-संवर-जोगे य, उदय मरणंतिए ॥४॥

संगाण च परिण्णाया, पायच्छित्त करणे वि य ।
आराहणाए मरणंते, वत्तीस जोग - संगहा ॥५॥

(समवायाङ्ग सूत्र, वत्तीसवां समवाय)

बत्तीस योग

उपर्युक्त पाच गाथाओ का सक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है जैसे कि :—

१ शिष्य द्वारा गुरु के समक्ष अपने दोषो को निवेदन करना।

२ शिष्य द्वारा आलोचित दोषों को किसी के समक्ष प्रकट न करना।

३ आपत्ति के समय धर्म मे दृढता रखना।

४ बिना किसी सहायक के तप करना या केवल निर्जरा के उद्देश्य से तप करना।

५ आगमो का अध्ययन और अध्यापन या सयम-पालन की रीति सीखना।

६ शरीर की सार-संभाल नही करना।

७. अपनी तप.-साधना को गुप्त रखना।

८. किसी के द्वारा दिये गए प्रलोभन मे न आना।

९ परीषह-कष्ट आदि सहन करने का अभ्यास करना।

१० मन, वाणी और काया के व्यापारो मे एकरूपता रखना।

११ शुचि अर्थात् सत्य और सयम को अपनाना।

१२. सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिये प्रयास करना।

१३ शरीर को स्वस्थ, वाणी को पवित्र और मन को एकाग्र रखना ।

१४ निःशल्य होकर पांच आचारो का पालन करना ।

१५ विनीत बनना—मान रहित होना ।

१६ सब तरह की दीनता से रहित होकर धैर्य-सम्पन्न होना ही धृति-मति है ।

१७ कर्म-बन्धन से मुक्त होने की अभिलाषा रखना ।

१८ सयम और तप मे कपट न करना ।

१९. विधि-पूर्वक सद्-अनुष्ठान करना ।

२०. सवर अर्थात् सभी आश्रवो का निरोध करना ।

२१ आत्मगत दोषो को दूर करने का प्रयास करना ।

२२ इन्द्रियो के सभी विषयो से विमुख होना, अर्थात् सर्व-काम-विरक्तता को जीवन मे उतारना ।

२३ मूलगुण-प्रत्याख्यान अर्थात् जिस त्याग से मूलगुण विकसित हो ऐसा आचरण करना ।

२४. उत्तरगुण प्रत्याख्यान, अर्थात् उत्तरगुण के बाधक दोषो का त्याग करना ।

२५ व्युत्सर्ग अर्थात् कायोत्सर्ग का अभ्यास करना ।

२६. आध्यात्मिक साधना मे क्षण मात्र भी प्रमाद न करना ।

२७ जीवन के प्रत्येक क्षण मे समाचारी का पालन करना ।

२८. धर्म-ध्यान द्वारा योगो का निरोध करना, ध्यान सवर-योग है ।

२९ मृत्यु के निकट आने पर भी मृत्यु-भय से क्षुब्ध न होना।

३० सग-त्याग, अर्थात् जिन कारणों से रागद्वेप उत्पन्न हो उन कारणों का त्याग करना।

३१ किसी भी छोटे-वडे दोप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त करना।

३२ शरीर और कषायो को क्षीण करने के लिये सलेखना एव सथारा करना।

समवायाङ्ग-सूत्र मे उपर्युक्त बत्तीस योगो का निर्देश किया गया है। हम आगामी अध्यायो मे इन बत्तीस योगो की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

योग-प्रवेश

जैन दर्शन वह नन्दन-वन है जिसमे विहरण और विचरण करने से मानव की सभी भ्रान्तिया दूर हो कर ज्ञान-पिपासा शान्त हो जाती है। जैसे सूर्य के उदित होने पर अन्धकार स्वत ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही इस नन्दन-वन मे पहुचकर सभी शकाए अनायास ही निर्मूल हो जाती हैं।

आत्मा मे अनन्त ज्ञान है, उसे ज्ञानावरणीय कर्म-प्रकृतियो ने ढाक रखा है। ज्ञानावरणीय कर्म का जितने-जितने अंश मे क्षयोपशम होता जाता है, उतना-उतना ज्ञान विकसित होता जाता है। जो ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है एव निश्चयात्मक है, वही ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है। जैसे दीपक या सूर्य को देखने के लिये किसी अन्य दीपक या सूर्य की आवश्यकता नही रहती, दीपक और सूर्य स्वय प्रकाशमान तो है ही, साथ ही वे दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित करते हैं। वैसे ही ज्ञानी आत्मतत्त्व को तो जान ही लेता है साथ ही वह अन्य लोगो को भी ज्ञानालोक से आलोकित कर देता है।

मानव को दो प्रकार से ज्ञान की प्राप्ति होती है, स्वत और सन्तो एव गुरुजनो के उपदेश से। ज्ञान-प्राप्ति के उपादान और निमित्त ये दो कारण सहायक माने गए है। इनमे ज्ञान-प्राप्ति के लिये उपादान कारण का होना अनिवार्य है, किन्तु निमित्त का होना

अनिवार्य नही। मानव अपने ही अनुभव एव सूझ-वूझ से जो ज्ञान प्राप्त करता है, वही ज्ञान स्वत होने वाला ज्ञान कहलाता है और उसमे उपादान की ही मुख्यता रहती है। निमित्त वही कहलाता है जो उपादान के अनुरूप हो। उदाहरण के रूप में जैसे नेत्रज्योति जितने अश मे होती है उसके अनुरूप ही यदि चश्मा (उपनेत्र) हो तो वह देखने मे सहायक होता है। न्यून-अधिक नम्बरो वाला चश्मा देखने में सहायक नही वन सकता। गुरु और शास्त्र ये सव ज्ञान की वाह्य सामग्रिया है—निमित्त हैं। जो ज्ञान किसी गुरु से उपदेश सुन कर या शास्त्र पढ कर होता है वह ज्ञान नैमित्तिक कहलाता है, अर्थात् वह ज्ञान किसी वाह्य निमित्त से होता है, अत वह ज्ञान परोपदिष्ट माना जाता है। जव तक उपादान कारण तैयार नही हो जाता, तव तक सभी निमित्त अकिंचित्कर रहते हैं।

अवधि-ज्ञान, मन.पर्यव-ज्ञान और केवल ज्ञान इनके उत्पन्न होने मे वाह्य निमित्त की आवश्यकता नही होती, अत ये तीन ज्ञान स्वत ही उत्पन्न होते हैं, ये निमित्त-जन्य नही होते। मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान मे दोनो कारण विद्यमान रहते है, अत वे स्वत भी होते हैं और वाह्य निमित्त से भी हुआ करते है। इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्राय निमित्तजन्य ही होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण मे होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद है सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान तथा मन पर्यवज्ञान ये दोनो ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष प्रमाण में उपादान की मुख्यता होती है, निमित्त की गौणता, जव कि परोक्ष प्रमाण मे निमित्त की प्रधानता रहती है और उपादान कारण गौण रहता है।

सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान हुआ करता है, सम्यग्ज्ञान वही है जो यथार्थ एव स्व-पर के लिए हितकर एव श्रेयस्कर होता है, वह ज्ञान ज्ञानी को ससार और ससार मे आवागमन के सभी कारणो से बचाता है, मोक्ष और मोक्ष के साधनो मे प्रवृत्ति कराता है। इसी कारण उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

सम्यग्ज्ञान होने पर ही सम्यक्-चारित्र की आराधना की जाती है, इस सम्यक् चारित्र का अंतर्भाव योग मे ही हो जाता है।

यद्यपि योग शब्द अनेक अर्थो का बोधक है जैसे कि गणित मे दो से अधिक राशियो के जोड को योग कहा जाता है, ज्योतिष-शास्त्र मे नक्षत्र एव राशि आदि की विशेष फलदायिनी युति ही योग है। तिथि-वार और नक्षत्र के मेल से आनन्द आदि योगो का होना योग माना जाता है। किसी शुभ काल के लिए भी योग शब्द का प्रयोग होता है। अनेक औषधियो के समिश्रण की विधि को भी योग कहते हैं। मन, वचन और काया की शुभ या अशुभ प्रवृत्ति को भी जैन परिभाषा मे योग कहा जाता है, परन्तु यहा योग शब्द का इष्ट अर्थ सम्यक् चारित्र ही है।

आत्म-कल्याण के जितने भी सफल साधन है वे सब योग हैं। जिस ध्यान द्वारा ध्याता का सबन्ध ध्येय के साथ जुड जाए वह योग है, अर्थात् चित्त को एकाग्र करने के सभी विधि विधान योग हैं, अर्थात् कर्म-बध से मुक्त होने के जितने भी विधि-विधान है उन सबका अन्तर्भाव योग मे ही हो जाता है। ऐसे विधि-विधानो की सख्या बत्तीस निर्धारित की गई है। इसी कारण उन्हे द्वात्रिंशत्-योग-सग्रह कहा गया है। साधना जीवन की वह मस्ती है जिस मे भौतिक सुख-दुःख का भान ही नही रहता। मन जब योग के केन्द्र मे पहुच जाता है तब मन मे उत्पन्न होने वाले सभी

विकार और विचार स्वत ही लुप्त होने लगते है। मन और इन्द्रियां स्वयमेव आत्मा के वशीभूत हो जाती हैं। ज्ञान का अखण्ड प्रकाश-पु ज सदा के लिए जगमगा उठता है, आत्मा सब तरह से कृतकृत्य होकर परमात्म-पद को प्राप्त कर लेता है, फिर उस के लिये कुछ प्राप्त करना शेष नही रह जाता। वह अपूर्ण से पूर्ण बन जाता है, उसकी चेतना और आनन्द ये दोनों ससीम से असीम बन जाते हैं। इतना ही नही आत्मा के सभी गुण असीम हो उठते है।

१. आलोचना

१ आलोचना– उपर्युक्त बत्तीस योगों मे सब से पहला योग है—आलोयणा—आलोचना। आलोचना शब्द का शाब्दिक अर्थ है चारो ओर अच्छी प्रकार देखना, अर्थात् किसी वस्तु के गुण-दोषो पर विचार करना या उनका निरूपण करना। इसका अर्थ 'बतलाना' भी है, अतएव प्रायश्चित्त के लिए अपने द्वारा किए हुए दोषो को निष्कपट भाव से गुरु के समक्ष बतलाना आलोचना कहलाती है। माया से सभी दोष छिपाये जाते हैं और निष्कपटता से उन्हे प्रकट किया जाता है। जब कोई भी वस्तु किसी दोष से दूषित हो जाती है, तब उसका मूल्य गिर जाता है, वैसे ही जब किसी साधक की साधना दोषो से दूषित हो जाती है तब उसकी साधना का स्तर भी गिर जाता है।

दोष को शास्त्रीय भाषा मे प्रतिसेवना भी कहते है। दोष कृत भी होते है और अकृत भी। हीरे, जवाहरात, मणि-मोती आदि पदार्थो मे जो दोष पाया जाता है वह अकृत दोष है। साधको मे कुछ जन्मजात दोष होते हैं और कुछ कृत दोष भी होते हैं, किन्तु प्रतिसेवना कृत की ही होती है अकृत की नही, क्योकि प्रतिसेवना का अर्थ है—निषिद्ध वस्तु का सेवन या आज्ञा-विरुद्ध कार्य करना। कोई भी साधक अपनी साधना को दूषित करने के लिए तैयार नही होता, प्रत्येक दृष्टि से वह अपनी साधना को शुद्ध रखने के

लिए प्रयास करता है, किन्तु कभी-कभी उसके सामने कुछ ऐसी विवशताए एव परिस्थितिया आ जाती है जिनसे साधक की साधना प्रतिसेवना के सामने घुटने टेक देती है। प्रतिसेवना के मूल कारण दस है जैसे कि—

(क) दर्प—अभिमान के वशीभूत होकर अपने साधना-पथ के नियम-उपनियमो की उपेक्षा करना एव निषिद्ध कार्य करना, दर्प-प्रतिसेवना है। इससे झूठ भी बोला जा सकता है, किसी को पीडित भी किया जा सकता है तथा किसी पूज्य की आशातना भी की जा सकती है।

(ख) प्रमाद—नशीली वस्तुओ का उपयोग करना, विलासता से, विकथा करने से, कपाय भाव से, अतिनिद्रा से,[1] धर्म-निरपेक्ष जीवन से, असावधानी से, अयतना आदि से जो दोप लगते हैं उनका समावेश प्रमाद मे हो ही जाता है। प्रमाद में कोई भी महाव्रत सुरक्षित नही रह पाता। प्रमाद सयम को तो दूषित करता ही है, साथ ही ज्ञान एव दर्शन को भी दूपित कर देता है। इसी को प्रमाद-प्रतिसेवना कहा गया है।

(ग) अनाभोग—अनजाने मे, बिना उपयोग के जिस दोप का सेवन किया जाय वह अनाभोग प्रतिसेवना है। जिस दोप का ज्ञान साधक को न हो पर वह हो जाय तो वह दोप इसी कोटि मे समाविष्ट होता है।

(घ) आतुर—जब कोई साधक किसी पीड़ा एव विपम परिस्थिति से अधीर हो जाता है, तब उसे आतुर कहा जाता है। प्रत्येक आतुर की स्थिति भिन्न हुआ करती है। जैसे कि कामातुर व्यक्ति मे न किसी का भय होता है और न लज्जा ही, चिन्तातुर

---

1. निद्द च न बहुमण्णेज्जा।

को न सुख है न निद्रा है, जो अर्थातुर है वह न बन्धु की परवाह करता है और न मित्र की, जो क्षुधातुर है उसका शरीर शिथिल और विवेक लुप्त हो जाता है और उसकी शक्ति क्षीण पड जाती है। अभिप्राय यह कि किसी भी तरह की आधि-व्याधि से व्यथित व्यक्ति आतुर कहलाता है।

(ङ) आपत्ति—आपत्ति चार प्रकार की होती है—द्रव्यापत्ति, क्षेत्रापत्ति, कालापत्ति और भावापत्ति।

प्रासुक एपणीय एव जीवनोपयोगी पात्र, वस्त्र, एव आवास आदि का न मिलना द्रव्यापत्ति है। निर्धन व्यक्ति द्रव्य के अभाव में तरह-तरह के दोपो का सेवन करते हुए देखे जाते हैं।

जो भूमि-भाग परीपह एव उपसर्गो से घिरा हो, जगली जानवरो से तथा डाकू-चोरो से व्याप्त हो, ऐसे भयकर स्थानो मे गति-स्थिति दोनो ही क्षेत्रापत्ति हैं। देवाधिष्ठित स्थानविशेष भी इसी मे समाविष्ट है।

मन का अस्थिर एव आकुल रहना, कि-कर्तव्य-विमूढता की स्थिति उत्पन्न हो जाना एव आर्तध्यान तथा रौद्र-ध्यान करते हुए आकुल होना भावापत्ति है।

इन आपत्तियो के उपस्थित होने पर साधक अपनी साधना से फिसल जाता है, नियम-उपनियमो की विराधना करने लग जाता है।

(च) संकीर्ण-प्रतिसेवना—जिस क्षेत्र मे चार पाच साधुओ का भली-भान्ति निर्वाह हो सकता हो, उसमे बीस-तीस साधुओ का आगमन हो जाए तो सकीर्ण दोष उत्पन्न हो जाता है। वहां आहार-पानी के वियालीस दोष टालने अति कठिन हो जाते है। आधाकर्म एव औद्देशिक आदि अनेक दोषो के होने की सम्भावना हो जाती

है, ऐसी पवित्र दृष्टि रखने वाला साधक ही दर्शन-सम्पन्न कहलाता है।

(च) **चारित्र-सम्पन्न**—उत्तम चारित्र वाला साधक अपने चारित्र को शुद्ध रखने के लिए दोषो की आलोचना करने हेतु स्वत ही प्रस्तुत रहता है। वह सर्वदा ऐसा आचरण करता है जिससे उसकी साधना सर्वथा शुद्ध एव पवित्र रहे।

(छ) **क्षान्त**—इसका अर्थ है क्षमावान् या शान्तिमान्। किसी दोष के अभिव्यक्त होने पर जब गुरुजन उपालम्भ या भर्त्सना देते है तब क्रोध को न उभरने देना—शात चित्त रहना, आलोचना के द्वारा शुद्धीकरण कर लेना, वह अपना कर्त्तव्य मानता है। शान्त साधक ही साधना-मार्ग पर प्रगति कर सकता है।

(ज) **दान्त**—दान्त का अर्थ है जितेन्द्रिय। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही आलोचना कर सकता है।

(झ) **अमायी**—निष्कपट व्यक्ति अनजाने मे किए हुए अपने पाप कृत्य को बिना छिपाए प्रकट करते और सरल हृदय से आलोचना करके शुद्ध हो जाता है।

(ञ) **अपश्चात्तापी**—आलोचना करने पर जो साधक आलोचना-जन्य पीडा से व्याकुल होकर कभी पश्चाताप नहीं करता, वही अपने सयम की शुद्धि कर सकता है।

आलोचना किसके पास करनी चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिये शास्त्र कारो ने अलोचना सुनने योग्य महापुरुष की परख के लिये उसमे दस गुणो का होना अनिवार्य माना है। वे विशेष दस गुण इस प्रकार हैं—

(क) आचारवान्—लोक-कल्याण-कारी एवं आत्मोत्थान मे सहायक उस आचरण को आचार कहा जाता है, जो महापुरुषो द्वारा सेवित हो और शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल हो। आचार का पालन समग्र रूप से होना चाहिये आंशिक रूप से नही।

आचार पाच प्रकार का होता है ज्ञानाचार—ज्ञान की आराधना, दर्शनाचार—सम्यग्दर्शन की आराधना, चारित्राचार—चारित्र की आराधना, तपाचार—तप की आराधना, वीर्याचार—सयम-रक्षा के लिए शक्ति या बल का प्रयोग। इन पाचो आचारो का पालन करने वाले महासाधक को आचारवान् कहा जाता है।

(ख) आधारवान्—आलोचना करने वाले व्यक्ति द्वारा कहे गए अतिचारो को जो मन मे धारण करता है वही प्रत्येक दोष की निवृत्ति करवा सकता है, जो सुनी हुई आलोचना को भूल जाता है वह दूसरे की शुद्धि नही करवा सकता।

(ग) अपव्रीडक—व्रीडा का अर्थ है लज्जा। जो शिष्य लज्जा के कारण अच्छी तरह आलोचना नही करता, उसकी लज्जा या सकोच को मीठे वचनो द्वारा दूर करके अच्छी तरह आलोचना कराने वाला हो।

(घ) प्रकुर्वक—आलोचित अतिचारो का प्रायश्चित्त देकर दोषो की निवृत्ति कराने मे समर्थ हो।

(ङ) व्यवहारवान्—शास्त्रीय दृष्टि से व्यवहार पाच प्रकार का होता है—आगम-व्यवहार, सूत्र-व्यवहार, धारणा-व्यवहार, आज्ञा-व्यवहार और जीत-व्यवहार।

प्रायश्चित्त कराने वाले महा पुरुष का इन पाचो व्यवहारो के विधि-विधान का ज्ञाता होना आवश्यक है।

है। भक्ति भाव वाले व्यक्तियो द्वारा छ काय की विराधना भी होनी स्वाभाविक है।

(छ) सहसाकार—विना सोचे समझे अकस्मात् किसी जीव पर पांव आ जाने से विराधना हो जानी, असत्य वोला जाना और सघट्टा लग जाना सहसाकार-प्रतिसेवना है।

(ज) भय—भयाक्रान्त साधक असत्य भी वोल सकता है, कायोत्सर्ग भी तोड सकता है, जीव-आकीर्ण मार्ग पर भी विना देखे विना प्रमार्जन किये जा सकता है, वृक्ष पर भी चढ सकता है, और दुराचार का सेवन भी कर सकता है। इस तरह की क्रिया भय-प्रतिसेवना है।

(झ) प्रद्वेष—द्वेपवश साधक असत्यभाषी हो जाता है, ईर्ष्यालु हो जाता है, किसी को अपमानित एव तिरस्कृत भी कर सकता है। इस दोप से ग्रस्त साधक जिस ओर भी देखता है उसे अवगुणो के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नही। गुणो पर उसकी दृष्टि जाती ही नही। प्रद्वेप जड़ और चेतन किसी पर भी हो सकता है।

यहां प्रद्वेप से चारो कपाय लिये जाते है। इस दोप के कारण आशातना, अविनय और सयम-विराधना का होना निश्चित है।

(ञ) विमर्श—जव साधक परीक्षण के निमित्त कोई कार्य करता है तव यह दोप लगता है। जैसे हाथ वाहर करके जानना कि वूदे पड रही हैं या कि नही ? रायते मे पड़ा हुआ मिर्च का वीज अचित्त हो जाता है या नही, यह जानने के लिये उसे उगाने की चेष्टा करना, जल सचित्त है या अचित्त परीक्षण करना, किसी की परीक्षा के लिये सयम की विराधना करना आदि विमर्श-प्रतिसेवना के ही अनेक रूप हैं।

जब कभी साधक के ज्ञान, दर्शन, सयम और तप दूपित हो जाते हैं तब उक्त दस कारणो से ही हुआ करते है, इन दोषो की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करना आवश्यक होता है। आलोचना करना भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त है ही। जिस साधक मे दस गुण हो वही आलोचना करने का अधिकारी माना जाता है। वे दस गुण निम्न-लिखित है, जैसे कि—

(क) **जाति-संपन्न**—उत्तम जातिवाला व्यक्ति प्रथम तो बुरा काम करता ही नही, यदि कभी उसके द्वारा भूल से हो भी जाए तो वह शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है।

(ख) **कुल सपन्न**—उत्तम कुल मे पैदा हुआ व्यक्ति श्रद्धा-पूर्वक एव 'भविष्य मे ऐसा काय नही करूगा' इस भावना से प्राय-श्चित्त करता है। जिस व्यक्ति का मातृपक्ष शुद्ध है वह जाति-सपन्न कहलाता है और जिसका पितृपक्ष शुद्ध है वह कुल-सपन्न माना जाता है।

(ग) **विनय-सम्पन्न**—विनीत व्यक्ति वडो की आज्ञा मानकर निष्कपट भाव से आलोचना कर लेता है।

(घ) **ज्ञान-सम्पन्न**—ज्ञानी जानता है कि आलोचना करने पर ही मैं रत्नत्रय का आराधक बन सकूगा, नही तो मुझे विराधक बनकर दुर्गतियो मे ही भटकना पडेगा, इस दृष्टि से ज्ञानी निष्कपट भाव से आलोचना कर लेता है।

(ङ) **दर्शन-सम्पन्न**—जिस के हृदय मे यह दृढ श्रद्धा है कि निष्कपट हृदय से की हुई आलोचना आत्म-शुद्धि एव सयम-शुद्धि का मूल कारण है, जीव के लिये परित्त-ससारी, सुलभ बोधि और आराधक बनने का सबसे आसान तरीका आलोचना

जब केवल ज्ञानी, मन पर्यंव-ज्ञानी, अवधि ज्ञानी एव पूर्वो के वेत्ता मुनिवर विद्यमान हो, उस समय सूत्र-व्यवहार मुख्य नहीं होता, तत्र आगम-व्यवहार की मुख्यता होती है। आगम-व्यवहारियो के अभाव मे सूत्र-व्यवहार की मुख्यता मानी जाती है।

जिस दोप या प्रायश्चित्त का उल्लेख सूत्र मे नही होता उस समय यदि किसी के पास यह पुरानी धारणा हो कि "अमुक आचार्य के पास ऐसा कारण बना था और उन्होने उसका प्रायश्चित्त यह दिया था" तो उस समय उसी प्रकार का प्रायश्चित्त देते हुए धारणा-व्यवहार से काम लिया जाना चाहिये।

कुछ ऐसे दोप भी होते है जिनका युगानुकूल प्रायश्चित्त गुरु या आचार्य दिया करते हैं और उसे दोपी साधक सहर्ष स्वीकृत कर लेता है, यही आज्ञा-व्यवहार कहलाता है।

कुछ प्रायश्चित्त जीताचार व्यवहार से दिया या लिया जाता है। जैसे कि पाक्षिक प्रतिक्रमण के बाद एक उपवास, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के बाद एक बेला और सावत्सरिक प्रतिक्रमण करने के अनन्तर एक तेला प्रायश्चित्त दिया जाता है, यह जीत-व्यवहार है।

(च) अपरिस्रावी—अर्थात् गम्भीर स्वभाव वाला। आलोचना करने वाले के दोपो को दूसरे के समक्ष प्रकट न करने वाला महापुरुप ही आलोचना सुनने का अधिकारी हो सकता है।

(छ) निर्यापक—जो दोपी साधक किसी कारणवश एक साथ प्रायश्चित्त वहन करने मे समर्थ न हो उसे थोडा-थोड़ा प्रायश्चित देकर निर्वाह कराने वाला निर्यापक कहलाता है। सब को एक डण्डे से नही हाका जा सकता, समर्थ और असमर्थ को देखना भी अत्यावश्यक होता है।

(ज) अपायदर्शी—यदि कोई साधक आलोचना ठीक तरह से नही कर रहा है तो उसको परलोक का भय दिखाकर तथा प्रायश्चित्त न करने पर उससे होने वाली हानियो को युक्ति-सहित प्रदर्शित करके प्रायश्चित्त मे रुचि जागृत करने वाला अपाय-दर्शी कहलाता है।

(झ) प्रियधर्मा—सुखदशा मे जिसको धर्म अत्यन्त प्रिय हो।

(ञ) दृढधर्मा—दुःख की दशा मे भी जो धर्म मे दृढ रहता हो।

इन दस गुणो से सपन्न मुनिवर के समक्ष आलोचना सुनानी चाहिए, परन्तु प्रत्येक साधक इन गुणो से सम्पन्न नही होता। भला जिसको प्रायश्चित्त-विधि का ज्ञान ही नहीं है, वह आलोचना कैसे करवा सकता है ? उसके सामने आलोचना करने से लाभ की अपेक्षा हानि होने की सभावना अधिक रहती है।

आलोचना करनेवाला अनेक कारणो से अपने दोषो को छिपाने का प्रयत्न करता है जैसे दड के भय से, अपयश के भय से, लज्जा के वश होकर, स्ववचना या पर-वचना करके। अत॰ प्रायश्चित्त देनेवाले आचार्य आदि को सर्व प्रथम ऐसे कारणो के भय से साधक को मुक्त कर देना चाहिये। यदि कोई साधक मिथ्या या सदोष आलोचना करता है तो वह आराधक बनने के योग्य नही होता। सदोष आलोचना के दस रूप है, जैसे कि—

(क) आकम्पयित्ता—कापते-कापते आलोचना करना या आचार्य को विनय-भक्ति से प्रसन्न करके फिर उन के पास आलोचना करना, जिसमे कि वे बहुत बडा प्रायश्चित्त न देकर कोई छोटा-सा प्रायश्चित्त दे दें अथवा क्षमा ही कर दे। जैसे अति-मलिन वस्त्र को अति स्वल्प जल से शुद्ध नही किया जा सकता,

वैसे ही सामान्य प्रायश्चित्त से भारी दोपो से मुक्ति मिलनी सर्वथा असम्भव है, अत दोप के अनुरूप ही प्रायश्चित्त होना चाहिये।

(ख) अणुमाणइत्ता—जिस-जिस अपराध का प्रायश्चित्त थोडा आए, उस-उस अपराध की आलोचना करना या अपने कुतर्क के आधार से अपराध को वहुत छोटा करके वताना भी आलोचना-विपयक महान् दोष है।

(ग) ज दिट्ठं—जिस अपराध को आचार्य ने देख लिया या जान लिया है, उसी की आलोचना करना, शेप को छिपा लेना भी आलोचना-दोप है।

(घ) वायरं—वड़े-वड़े अपराधो की आलोचना कर लेना और छोटे-छोटे अपराधो की आलोचना न करना भी आलोचना-दोप है।

(ङ) सुहुमं—छोटे-छोटे अपराधो की आलोचना करना। ऐसा केवल इस दृष्टि से किया जाता है कि लोग यह समझे—'जो व्यक्ति छोटे-छोटे अपराधो की आलोचना कर लेता है, वह वडे अपराधो को कैसे छिपा सकता है? इस प्रकार की कपटपूर्ण आलोचना करनेवाला व्यक्ति आलोचना का अधिकारी ही नही रह जाता।

(च) छिन्नं—अधिक लज्जा के कारण अस्पष्ट शब्दो मे आलोचना करना, जिससे सुनने वाले को सुनने और समझने मे दिक्कत आए, यह भी आलोचना-दोष है।

(छ) सद्दालुअ—आलोचना करते समय जोर-जोर से वोलना, जिस से कि आचार्य के अतिरिक्त दूसरे लोग भी सुन सकें, यह भी आलोचना-दोप के अन्तर्गत है।

(ज) बहुजण - एक ही दोष की आलोचना बहुत गुरुओ के पास करना आलोचना दोष है। जिस दोष की आलोचना एक बार की जा चुकी है। उसकी आलोचना पुन करने की आवश्यकता नही होती, यदि की जाती है तो अवश्य ही उसके पीछे कोई कपट-व्यवहार होना है।

(झ) अव्वत्त - जो प्रायश्चित्त-विधि का वेत्ता नही है, उसके पास आलोचना करना भी आलोचना-दोष है, इससे भी उसका शुद्धीकरण नही होने पाता।

(ञ) तस्सेवी—जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष को सेवन करने वाले के पास आलोचना करना आलोचना-दोप है। जो स्वय दोषी है, वह दूसरो को प्रायश्चित्त देकर दोषो से मुक्त कैसे कर सकता है ?

सत्य और निष्कपट हृदय से जो आलोचना की जाती है, उसके माध्यम से पता लग जाता है कि यह साधक किस प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकता है ? गुरु करुणा के समुद्र होते है, वे इस लोक मे तथा परलोक मे सभी स्थानो पर शिष्य का हित ही सोचते है, वे शिष्य की उन्नति मे सहायक होते है।

शिष्य तीन तरह के होते हैं—एक वे जिन्हे गुरु को कुछ कहना नही पडता, अपितु आत्म-प्रेरणा से गुरु-आज्ञा का पालन करते है, ऐसे शिष्य सुशिष्य कहलाते हैं। जो कहने पर ही कार्य करने वाले हैं, जिन मे अपनी सूझ-बूझ नही हाती, वे शिष्य कहे जाते है और जो न अपनी सूझ-बूझ से काम लेते है और न गुरु आदि के कहने पर ही कार्य करते हैं, वे कुशिष्य माने जाते हैं। इन मे से सुशिष्य सर्वाराधक होते हैं, शिष्य कुछ आराधक भी होते हैं और कुछ विराधक भी होते हैं, किन्तु कुशिष्य सर्वथा विराधक ही हुआ करते हैं।

जैसे क्रिया के विपरीत होने से कार्य भी विपरीत ही हो जाता है, वैसे ही क्रिया सम्यक् होने से कार्य भी सम्यक् होता है। सुशिष्य नित्यप्रति आलोचना बोलकर या लिखकर करता है। जैसे शरीर मे पित्त बढ जाने से जब तक उल्टी के द्वारा वह पित्त बाहर नही निकल जाता, तब तक शरीर मे घबराहट रहती है, उसके निकल जाने पर बेचैनी भी दूर हो जाती है, वैसे ही आलोचना करने से सभी दोष विलुप्त हो जाते हैं, मन सब तरह से समाहित हो जाता है, अत सदोष साधक के लिए आलोचना करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा परलोक सुखकर नही होता है। योगी बनने के लिये यही प्रथम सीढी है, इस पर साधक को सावधान होकर चढने का प्रयास करना चाहिये।

२. निरवलावे : निरपलाप

किसी की आलोचना सुनकर उसे अन्य के सामने प्रकाशित न करना, अपितु उसे अपने गहरे हृदय-स्थित गुणसिन्धु मे डालकर उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देना चाहिये, उस विप को अमृत बना देना चाहिये। यही प्रायश्चित्त-दाता की गम्भीरता एव महत्ता है, अत· निरपलापता साधक का महत्त्वपूर्ण गुण है।

अपलाप का दूसरा अर्थ है मिथ्यावाद—वकवाद या किसी तरह की गलत वाते बनाना। यह एक अवगुण है, इससे रहित होना निरपलापता है। प्रायश्चित्त-दाता महा साधक जितना कुछ देखता है और जितना कुछ सुनता है, वह सब कहने योग्य नही होता है। उसे तो केवल वही बातें कहनी चाहिये जो सत्य हो एव शास्त्र की दृष्टि से पवित्र हो। शेप सब वाते अपलाप मात्र ही होती है, उनसे निवृत्ति पाना ही निरपलापता है।

अपलाप का तीसरा अर्थ है—सत् की नास्ति करना, अर्थात् उसके अस्तित्व को स्वीकार न करना, अथवा उसका निषेध करना। जैसे कि नव तत्त्व शाश्वत हैं उनके अस्तित्व को नकारा नही जा सकता, यदि कोई विद्वान् अपने तर्क-बल के द्वारा नवतत्त्वो मे से जीव तत्त्व का अपलाप कर दे तो पुण्य, पाप आस्रव, सवर, बन्ध, निर्जरा, मोक्ष इन सबका अपलाप हो जाना निश्चित है। पुण्य-पाप का यदि अपलाप हो जाएगा तो ससार की लीला ही समाप्त हो

जाएगी। आश्रव और वध का यदि अपलाप हो जाए तो जीव का जन्म-मरण अकारण ही मानना पडेगा। संवर और निर्जरा ये साधना के मूल मत्र हैं, इनका यदि अपलाप हो जाए तो आश्रव-निरोध और वध को क्षीण कैसे किया जा सकेगा ? मोक्ष तत्त्व का अपलाप करने से साधना का चरम एव परम लक्ष्य ही समाप्त हो जाएगा। अत सम्यग् ज्ञानी प्रायश्चित्त-दाता मे इस दृष्टि भी निर-पलाप गुण का होना आवश्यक है। वीतराग भगवान् ने जिन तत्त्वो का निरूपण किया है, द्रव्य और द्रव्य-पर्याय, गुण और गुण-पर्याय जो जैसा है उसे उसके यथार्थ रूप मे अनेकान्तवाद द्वारा समझना, फिर इस निर्णय तक पहुचना कि जो त्याज्य एव हेय है उससे निवृत्त होना चाहिये और जो ग्राह्य एव उपादेय है उसमे प्रवृत्ति करनी चाहिये, तथा जो साधक जीवन के लिये उपयोगी एव ज्ञातव्य है, उन्हे ध्यान का विपय वनाना चाहिये। इस प्रकार उन तत्त्वो का विभागीकरण करना सम्यग्ज्ञान है। वस्तु मे जो धर्म या गुण अस्तित्व से विभूपित है उसे नास्तित्व के पक से कलकित करना और जो नास्तित्व धर्म से युक्त है उसे अस्तित्व धर्म से युक्त करना मिथ्यावाद एव अपलाप है।

मिथ्यावाद का विरोधी दृष्टिकोण सम्यग्वाद है। सम्यग्वाद ही निरपलाप है। निरपलाप जैन दर्शन का प्रमुखतम आधार है। अपलाप कर्म-वंध का कारण है और निरपलापता मोक्ष सवर एव निर्जरा का प्रधान अग है। इसी को दूसरे शब्दों मे आस्तिक-वाद भी कहते हैं। अशुद्ध प्ररूपणा न करना ही निरपलाप है और कथनी एव करनी मे लुकाव-छिपाव न किया जाए उसी को शुद्ध प्ररूपणा कहते हैं।

३. दृढ़-धर्मता

दृढधर्मता का अभिप्राय है आपत्तिकाल मे भी धर्म मे दृढ रहना। कुछ लोग कहा करते हैं "आपत् काले मर्यादा नास्ति"—आपत्ति-काल मे धर्म-मर्यादा आवश्यक नही, उस समय सभी प्रतिज्ञाए भंग की जा सकती हैं। यह नीति-वाक्य सामान्य लोगो के लिये है, महामानवो पर यह उक्ति चरितार्थ नही होती। महामानव बनने का अधिकारी वही हो सकता है जिसे सुख मे भी धर्म प्रिय है और आपत्ति-काल मे भी जो धर्म पर दृढ रहता है। ऐसा व्यक्ति ही विश्व-विजयी एव आत्म-विजयी बन सकता है। लौकिक या आध्यात्मिक कोई भी सफलता हो वह अनेक प्रकार के झझटो एव दु खो के साथ जूझकर समता एव सहनशीलता से ही प्राप्त की जा सकती है। धर्म भी साधक को तभी सफलता देता है जब कि वह आपत्ति एव विपत्ति को वरदान समझकर सहर्ष सह लेता है और तभी वह आध्यात्मिक सपत्ति को प्राप्त करने का अधि-कारी बन सकता है।

जैसे विष और अमृत ये दोनो परस्पर विरोधी तत्व हैं। अमृत के अभाव मे विष अपने आप मे पूर्ण समर्थ है, किन्तु शरीर-व्यापी विष को अमृत का एक विन्दु भी नष्ट कर देता है। धर्म में निश्चल रहने से कर्म-रोग, भवरोग, और कषाय-भाव ये सब स्वत ही नष्ट हो जाते है। कर्म-रोग एव भवरोग से पीडित व्यक्ति द्वारा

किए गए आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान मन मे, बुद्धि मे और शरीर मे स्थिरता नही रहने देते और मानसिक एवं वैचारिक अस्थिरता योग की शत्रु है।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का मूल है आपत्ति। आपत्ति का अर्थ है—दु ख, क्लेश, विघ्न, आफत, वेरोजगारी-आजीविका का अभाव, दोषारोपण और विपदा। आपत्ति मे प्रत्येक प्राणी भयभीत होता है। जब किसी व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि आपत्ति को झेलने से मेरा भविष्य उज्ज्वल हो जाएगा तो वह आनेवाली आपत्ति का भी स्वागत करने लगता है। जो आपत्ति का स्वागत करता है, वही महामानव है।

तितिक्षु महामानव को अन्तरात्मा भी कह सकते है, वहिरात्मा महामानवता की परिधि मे प्रवेश नही कर सकता, जब तक कि वह तितिक्षाशील वनकर कष्टो का स्वागत नही करता।

आपत्ति चार प्रकार की होती है—द्रव्यापत्ति, क्षेत्रापत्ति, कालापत्ति और भावापत्ति। इन का विश्लेषण पहले अध्याय मे किया जा चुका है।

जितनी भी आपत्तिया प्राणी मात्र पर आक्रमण कर सकती है, उनकी गणना यदि सक्षेप मे की जाए तो उपर्युक्त चार की सख्या का उल्लघन नही होता। आपत्तियो का सामना केवल समता द्वारा ही किया सकता है, क्योकि जव कोई अन्तरात्मा समता के भीतर प्रवेश कर जाता है-तव उस पर होने वाले आपत्तियो के प्रहार भले ही हजारो-लाखो हो, वे उसकी प्रगति मे वाधक नही वन सकते। जव किसी कछुए पर शिकारियो का प्रहार होता है, तव वह अपने अगो-उपाङ्गो को सकोच कर खोपडी में

प्रविष्ट कर लेता है, तब उस पर किसी बाहरी प्रहार का कोई प्रभाव नही पड़ता, वह सब तरह सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार जो साधक किसी भी आपत्ति के आने पर सयम, तप और अहिंसा रूप धर्म का अवलम्ब लेकर आत्म-अवस्थित हो जाता है, निश्चय ही सफलता उसके चरण चूमती है। जीवन का चरम लक्ष्य है—दुःखो मे अनुद्विग्न रहना और सुखों मे निस्पृह रहना। इस लक्ष्य को प्राप्त करना ही साधना-मार्ग की सबसे बड़ी सफलता है। ●

४. अनिश्रितोपधान

'अनिश्रित' और 'उपधान' इन दो शब्दो के योग से 'अनिश्रितोपधान' शब्द की निष्पत्ति होती है। उपधान जैनागमो का पारिभाषिक शब्द है। इस का अर्थ है शरीर को कष्ट देनेवाले तथा कषायो एव अष्ट विध कर्मों को भस्म करने वाले वे धार्मिक व्रत नियम अनुष्ठान आदि जो चित्त को भोग-विलास से हटाने के लिये किये जाए। इन्द्रियो को वश में रखना, शरीर की प्रत्येक किया मे विवेक रखना और शास्त्रोक्त विधि से तपश्चर्या करना उपधान है।

उपधान दो प्रकार का होता है—निश्रितोपधान और अनिश्रितोपधान। आसक्तिपूर्वक तपश्चर्या करना निश्रितोपधान है और अनासक्ति से प्रेरित होकर तपश्चर्या करना अनिश्रितोपधान है। वैदिक सस्कृति प्राय तप के पहले रूप को स्वीकारती है और श्रमण-सस्कृति की तप के दूसरे रूप पर विशेष निष्ठा है। जो तप किसी भौतिक सुख की कामना रख कर किया जाता है ऐसे तप के आचरण के लिये भगवान महावीर ने किसी को भी प्रेरणा नही दी। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे साधको को उद्बोधन देते हुए कहा है —

नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नो पर लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,

नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
अर्थात्—इह लौकिक सुखो के लिये तप न करे।

स्वर्गादि के सुखो की प्राप्ति के लिये भी तप न करे।

यश, कीर्ति, वर्ण शब्द और श्लोक के लिये भी तप न करे।

अब प्रश्न होता है कि यदि साधक उपर्युक्त कारणो से तप न करे तो फिर किस उद्देश्य से तप करे ? अन्ततोगत्वा कोई न कोई उद्देश्य तो साधक के सामने होता ही है। बिना उद्देश्य के कोई भी किसी कार्य मे प्रवृत्ति नही करता। अरिहन्त भगवान तप के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं —

नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा

केवल कर्मो की निर्जरा के लिये ही तप करना चाहिये। इसी से वास्तविक मोक्ष-सुख एव आध्यात्मिक सुख की उपलब्धि होती है। जो लोग सासारिक सुखो की आशा से तप करते है, उनकी सुख-आशा यथासम्भव पूर्ण हो ही जाती है, किन्तु वे निर्वाण-सुख प्राप्त न करके ससार-चक्र मे ही परिभ्रमण करते रहते हैं। 'तप से राज और राज से नरक' की उक्ति को ऐसे लोग ही चरितार्थ करते है।

भगवान महावीर ने न स्वय मिथ्या तप की साधना की और न दूसरो को मिथ्या तप का मार्ग बताया है। उन्होने राजसी और तामसी तप का मुमुक्षुओ के लिये निषेध किया है। केवल सात्त्विक तप करने के लिये ही प्रेरणा दी है। इसी को दूसरे शब्दो मे अनिश्रितोपधान तप कहा गया है। अनिश्रितोपधान शब्द का "किसी दूसरे की सहायता के बिना तप करना" यह अर्थ भी सुसगत है। यही तप समाधि-जनक तथा सब तरह के विकारो को नष्ट करने वाला है। इसी तप से साधक परमात्म-पद की प्राप्ति कर सकता है। ●

५. शिक्षा

मनुष्य के जितने भी विचार है वे सब के सब उसके अपने नही होते, कुछ घर के सदस्यो से मिलते है, कुछ साथियो से, कुछ तत्कालीन समाज से, कुछ सत्सग से, कुछ साहित्य से, कुछ पत्र-पत्रिकाओ से, कुछ शास्त्रो से कुछ जीव-जन्तुओ से, कुछ जड-पदार्थो से प्राप्त होते है और कुछ अपने ही अनुभव के आधार पर चित्त मे समुदित होते है। कुछ विचार सपक्षरूप मे उदित होते है और कुछ विपक्षरूप मे। कुछ विचारो को मन व्यर्थ समझ कर छोड़ देता है और कुछ को भूल जाता है। जो विचार आज उसे सत्य प्रतीत होते है, कालान्तर मे वे ही विचार असत्य प्रतीत होने लगते हैं और जो विचार आज असत्य लगते हैं वे ही विचार कालान्तर मे सत्य सिद्ध होते हैं। अत विचारो मे सत्य-असत्य का निर्णय चिन्तन मनन से ही होता है।

विचार प्राय भाषा के माध्यम से प्राप्त होते है। यही कारण है कि मानव सब से पहले भाषा सीखता है, तत्पश्चात् भाषा-विज्ञान। शब्द शुद्ध है या अशुद्ध इसका निर्णय वह व्याकरण के नियमो से करता है। छन्द, रस, रीति, काव्य, अलकार गुण, दोष एव शब्द-निष्पत्ति आदि का सामान्य एव विशेष ज्ञान ही भाषा-विज्ञान है।

भाषा-विज्ञान श्रुतज्ञान का अभिन्न अग है। श्रुत-ज्ञान

सीखा जाता है और सिखाया भी जाता है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान मन पर्यव-ज्ञान और केवलज्ञान ये चार ज्ञान सीखने-सिखाने से उपलब्ध नही होते, क्योंकि ये ज्ञान अक्षर रूप नही है। जो कुछ भी सीखा जाता है या सिखाया जाता है, वह श्रुतज्ञान है।

अनुशासन मे रहने की रीति नीति के ज्ञान को शिक्षा कहते है। शिक्षा दो प्रकार की होती है, ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा। इन्ही को दूसरे शब्दो मे विद्या पढने की और कला सीखने की क्रिया भी कहते हैं। विश्व मे विज्ञान और कला का ही बोल बाला है। लोक-व्यवहार मे मनुष्य अक्षर-ज्ञान प्राप्त करके शब्द-बोध और अर्थ-बोध के द्वारा जो शिक्षा ग्रहण करता है वह ग्रहण-शिक्षा है और जो वह जीवन-कला या धर्म कला का नित्य प्रति अभ्यास करता है वह आसेवन-शिक्षा है।

आगम श्रद्धागम्य भी है और ज्ञानगम्य भी। जब शिष्य गुरु मे सूत्रगत मूल पाठ का उच्चारण सीखता है पद और पदो के अर्थ का ज्ञान करता है, आज्ञा और धारणा से अर्थ के वास्तविक अभिप्राय को जानता है, तब यह क्रम ग्रहण-शिक्षा का माना जाता है।

श्रुतज्ञान सीखने पर जो जीवन मे प्रभाव पडता है, उसके दो रूप—हैं निवृत्ति और प्रवृत्ति। ये चारित्र के अतरग और वहिरग कारण है। कषायो एव राग-द्वेष आदि के विचारो से निवृत्त होना चारित्र का अतरग कारण है। निवृत्ति का ही दूसरा नाम विवेक है।

शरीर की प्रत्येक क्रिया मे सयम-पूर्वक प्रवृत्ति करना यतना है, अत खान-पान मे, गमनागमन मे, उठने-बैठने मे, शरीर के

सकोचन-प्रसारण मे, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो के प्रतिलेखन-प्रमार्जन मे, वस्तु के उठाने-रखने मे, मल-मूत्र आदि के त्याग मे यतन करना तथा वाणी बोलने मे सयम से काम लेना इस प्रकार की सुप्रवृत्ति चारित्र का बाह्य अग है। दुष्प्रवृत्तियो से निवृत्ति और सत्कार्यो मे प्रवृत्ति ही चारित्र है। चारित्र जीवन की सर्वोच्च कला है। कला का अभ्यास बिना सीखे नहीं हो सकता, जब तक चारित्र की उपयोगिता पूर्ण न हो जाए, तब तक क्षण-क्षण मे आसेवन-शिक्षा का अभ्यास करते ही रहना चाहिये। ग्रहण-शिक्षा से ही आसेवन-शिक्षा पल्लवित, पुष्पित एव फलित होती है। ग्रहण शिक्षा के बिना आसेवन-शिक्षा अकिंचित्कर है, अत कहा भी है 'पढम नाण तओ दया" पहले ज्ञान होगा तभी जीवो पर दया की जा सकती है। छ काय का ज्ञान होने पर ही अहिंसा महाव्रत पल सकता है। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये सब अहिंसा के पोषक एव परिवर्धक तत्त्व हे। अत पहले ग्रहण-शिक्षा का अभ्यास करना चाहिए, फिर आसेवन-शिक्षा का। शिक्षा योग-साधना की पाचवी सीढी है। ●

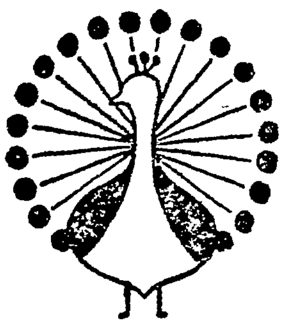

६. निष्प्रतिकर्मता

शरीर की साज-सज्जा को प्रतिकर्मता या परिकर्मता कहते हैं। उससे निवृत्त होने की साधना ही निष्प्रतिकर्मता या निष्परि-कर्मता है।

मार्ग मूलत दो ही हैं एक ससार-मार्ग, दूसरा मोक्ष-मार्ग। दोनो मार्ग परस्पर विरोधी हैं। जो जिस पथ का पथिक बना हुआ है, वह उसी को अच्छा समझता है। दूसरे पथ के पथिक को अच्छा नही समझता। ससारी जीव देह की दासता से वधा हुआ है, जब कि मुमुक्षु साधक देह का पुजारी नही होता वह अपने जीवन के स्वर्णिम क्षण धर्म-साधना मे ही लगाता है शरीर की साज-सज्जा मे नही।

मोक्षार्थी की दृष्टि मे शरीर सर्वथा अशुद्ध है, क्योकि यह रज और वीर्य जैसे घृणित पदार्थो के योग से बना हुआ है। माता के गर्भ मे अशुचि पदार्थो के आहार से इसकी वृद्धि हुई है। उत्तम रसीले एव स्वादिष्ट पदार्थो का आहार भी इस शरीर मे जाकर अशुचि रूप मे परिणत हो जाता है। आख, कान, नाक, मुह आदि नव द्वारो से घृणित मल ही झरता रहता है। जैसे पानी और साबुन आदि से अच्छी तरह मल-मल कर धोने पर भी कोयला अपना रग नही बदलता, वैसे ही इस अपवित्र शरीर को पवित्र एव निर्मल बनाने के लिए कितने ही साधनो का प्रयोग क्यो न

किया जाए, वह अपने अशुचि स्वभाव का परित्याग नही करता, क्योकि इसमे नित्य मल-मूत्र आदि उत्पन्न होते रहते हैं। यदि शान्त एव स्थिर होकर सोचा जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि शरीर का कोई भी अवयव घृणा-जनक पदार्थों से शून्य नही है।

यह शरीर आधि-व्याधि आदि अनेक रोगो का घर है। इसे कोई गगाजल या समुद्र के जल से भी शुद्ध करना चाहे तो भी यह शुद्ध नही हो सकता। इसी उद्देश्य को लेकर ज्ञानी जन शीत जल से या गर्म जल से स्नान नही करते, क्योकि स्नान बनाव का मुख्य अग है, बनाव काम-वासना की अभिवृद्धि करता है। इतना ही नहीं, वे न केशालकार करते है, न वस्त्रालकार, न आभरणालकार और न माल्यालकार करते हैं, ये सब विभूषा के साधन हैं और इनका उद्देश्य विपरीत लिंगी का आकर्षण ही होता है।

आत्महित का इच्छुक साधक विभूषा, काम-वासना को उत्ते-जित करने वाला सग और पौष्टिक पदार्थो का आहार इन सबको तालपुट विष के समान समझता है। अत वह शरीर के किसी भी बनाव-शृ गार की ओर कभी भी ध्यान नही देता। वह जगत् के स्वभाव को और शरीर के स्वभाव को भली भान्ति जानता है। उसके लिए जगत और शरीर दोनो तरह का स्वभाव ससार मे फसाने के लिए नही, अपितु सवेग और वैराग्य की जागृति के लिये है। कहा भी है 'जगत्काय स्वभावौ सवेग-वैराग्यार्थम्"।

(तत्वार्थ सूत्र अ० ७वा)

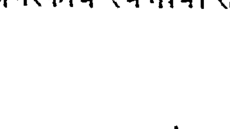

७. अज्ञातता

इस का अर्थ है छिपाव, अर्थात् अपने प्रत्येक शुभ अनुष्ठान को –पाठ, जप, ध्यान एव तप आदि को इस प्रकार करना चाहिये जिससे उसे सांसारिक लोग न जान पाए, तप आत्म-शुद्धि के लिये हो, प्रदर्शन के लिये नही। साधक को अपना तप किसी के सामने प्रकाशित नही करना चाहिये, यश और पूजा की कामना किये विना इस प्रकार तप करना चाहिए कि किसी को पता ही न लगे। अज्ञात तप मन को शान्त वनाता है तथा अधिक से अधिक कर्मों की निर्जरा और शुभानुवन्धी शुभ फल देनेवाला होता है।

इस तप की आराधना वही कर सकता है जिसको मान-प्रतिष्ठा की भूख न हो, प्रसिद्धि की कामना न हो, सासारिक सुख-समृद्धि की आशा न हो, इहलोक और परलोक की इच्छा से जो निस्पृह हो, दृष्ट एवं अदृष्ट वैपयिक सुखो की तृष्णा से रहित हो, जिस मे तप करने की सहज भावना हो, जो तप करने की विधि का ज्ञाता हो, तप की साधना मे श्रद्धा रखनेवाला हो, भगवान की वाणी पर दृढ निष्ठा रखता हो, आत्मा पर और कर्म सिद्धात पर जिसका दृढ़ विश्वास हो, जो चारित्रवान हो, इतना ही नही जितेन्द्रिय भी हो तथा मन्द-कपायी हो, विनीतता एव आर्जव आदि गुणो से युक्त हो, आगमो का पारगामी हो, वही इस अज्ञात तप का आराधक वन सकता है।

कोई भी धनाढ्य व्यक्ति जैसे किसी के सामने अपनी सपत्ति या आमदनी को वास्तविक रूप मे नही बताता, उसे गुप्त रखता है, वैसे ही तप भी साधु का महान् धन है, उसे गुप्त रखने मे ही उसका कल्याण है। सेठों के खुले धन को देखकर जैसे उनके आस-पास अर्थार्थियो की टोली मडराने लग जाती है वैसे ही प्रसिद्धि प्राप्त तपस्वी को स्वार्थ-परायण, गृहस्थ समय-असमय घेरे रहते हैं, जिससे उसकी साधना मे शैथिल्य आना स्वाभाविक हो जाता है, क्योकि अधिक जन-ससर्ग साधना-मार्ग का बाधक होता है।

तपस्वी को चाहिये कि वह **"गिहसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं"**—गृहस्थो के साथ परिचय न करे साधुओ के साथ ही परिचय करे, क्योकि **"संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति"** जो जैसा ससर्ग करेगा वह वैसा होकर ही रहेगा। अत. साधक को अज्ञात-तप ही करना चाहिए, उसे जलसे और जलूसो के चक्कर में नही पडना चाहिए।

हम देखते हैं कि आज के तपस्वी की वृत्ति विज्ञापनमयी हो गई है, वह तप करता है शोहरत के लिये, चेले-चेलियां बढाने के लिये एवं मान-प्रतिष्ठा की वृद्धि के लिये। ऐसे तप को तप नही कहा जा सकता, उसे यदि केवल कायक्लेश कहे तो ठीक रहेगा तप के लिये काया को क्लेश देना बुरा नही, प्रदर्शन के लिये काया को क्लेश देना हिंसा है। प्रदर्शन के लिये काया को क्लेश तो सरकस वाले भी देते हैं, उसे न तो तप कहा जा सकता है और न ही उससे देवलोको की अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, अत एकान्त स्थान मे आत्मोत्थान के लिये ही अज्ञाततप करना चाहिये।

८. अलोभ

यहा लोभ शब्द के विपरीतार्थक शब्द 'सन्तोप' का प्रयोग न करके निपेध सूचक 'अलोभ' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे सभी तरह से लोभ के परित्याग की भावना ध्वनित की गई है।

इन्द्रियो के द्वारा जड या चेतन का प्रत्यक्ष होते ही मन में उसे प्राप्त करने को जो आकुलता जागृत हो जाती है वही लोभ है। जब लोभ मन मे पैदा होता है, तब मन उचित-अनुचित का विवेक खो देता है। लोभ के वशीभूत होकर मानव हिंसा भी करता है, झूठ और चोरी मे भी प्रवृत्त होता है, दूसरे की वस्तु को हथियाने की कोशिश भी करता है।

लाभ से लोभ बढता है, कपट उसका साथी है, लोभ और कपट का सयोग सभी पापो को जन्म देता है। लोभ से सभी तरह के मधुर सम्बन्ध खटाई मे पड जाते हैं। मन की शान्ति भग हो जाती है।

जब साधक त्यागवृत्ति में पहुच जाता है तब उसके लिये भगवान निर्देश करते है कि अब अपने जीवन मे लोभ का उद्भव न होने दो, जब चित्त पर लोभ की छाया भी न रह जाय वही अलोभ की दशा है। जब साधक आत्मस्वरूप मे रमण करता है, सन्तुष्ट रहता है, तब उसमे लोभ की सूक्ष्म वृत्ति भी नही रह

जाती है। एक लोभ के छोड़ने से उसके सहयोगी सभी दुष्कृत स्वत छूट जाते हैं।

अलोभ आत्मा का उत्थान करनेवाला है और लोभ आध्यात्मिकता के शिखरो से पतन कराने वाला है। हजारो गुणो मे प्रमुख गुण है अलोभ, जब कि हजारो अवगुणो मे मुख्य अवगुण है लोभ। अलोभ आत्मा का निज धर्म है और लोभ परधर्म। लोभ से आत्मा ससार की ओर आकृष्ट होता है और अलोभ परमात्मा की परिधि मे पहुचाने वाला है। अलोभ सयम है और लोभ वासना है। अलोभ आत्मा का स्वाभाविक गुण है और लोभ वैभाविक एव औपचारिक गुण है। अलोभ अखण्ड शान्ति एव आनन्द का असीम ह्रद है और लोभ दु.ख-परम्परा की महाज्वाला है। लोभ का उन्मूलन उसके त्याग से होता है। लोभ के निवृत्त हो जाने पर अलोभ स्वत. उत्पन्न हो जाता है। लोभ असत्य का अनुरागी है और अलोभ सत्य का सहचर है। अत अलोभ उच्चसाधक का भूषण है। सभी सांसारिक प्रवृत्तियो का तन्तु लोभ से जुडा रहता है। चाह, इच्छा, अभिलाषा, कामना, वासना ये सब लोभ के ही अनेक रूप है। एक विचारक के शब्दो मे—

चाह मिटी चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिसको कछु न चाहिये सोई शहनशाह॥

अलोभ साधक को शहनशाह—इच्छा-मुक्त महान् सन्त बना देता है।

६. तितिक्षा

साधक के लिये सहनशील होना भी अनिवार्य है। तितिक्षा का अर्थ है—किसी के द्वारा किए गए दुर्व्यवहार को शान्त भाव से एक वार नही अनेक बार सहन करना। जब कोई गाली के रूप मे अमगल शब्द बोल रहा हो, या मार-पीट कर रहा हो, तब प्राय क्रोध आ ही जाता है, उस समय मन की शान्ति को भग न होने देना, किसी के द्वारा परीपहो या उपसर्गो के निरतर दिये जाने पर भी मन मे उसके प्रति रोष न आने देना, मन से भी ऐसे व्यक्ति का अमगल न सोचना, न अमगलवाणी बोलना और उसके लिए अमगल कार्य करना न तितिक्षा है। निर्वात स्थान मे रखे हुए दीपक की लौ जैसे स्थिर रह कर अखण्ड प्रकाश देती है वैसे ही गहरी शान्ति मे प्रवेश करके वाहर से होने वाले प्रहारो को, गाली या निन्दनीय शब्दो को सुनकर स्थिर रहते हुए शत्रु और मित्र दोनो को समान प्रकाश देता हुआ धर्म-ध्यान मे अवस्थित रहे यही साधक का परम कर्त्तव्य है। सहनशीलता धर्म का प्रमुख अग है, क्योकि धर्म-भाव मानव को कष्ट-सहन करने की शक्ति देता है।

तितिक्षा चार प्रकार की होती है—

(क) कुछ साधक वाहर से तो सहनशील बने रहते है,

किन्तु उनका मन क्रुद्ध होता रहता है, परन्तु वे क्रोध के भाव को वाहर प्रकट नही होने देते ।

(ख) कुछ साधक आन्तरिक रूप से तो सर्वथा सहनशील रहते हैं, किन्तु वाहर से क्रोध करते हुए से प्रतीत होते है ।

(ग) कुछ ऐसे साधक भी होते है जो आन्तरिक एवं वाह्य दोनो दृष्टियो से सहनशील होते हैं ।

(घ) कुछ ऐसे हीन साधक भी होते हैं जो न शारीरिक दृष्टि से सहनशील होते हैं और न मानसिक दृष्टि से ।

इनमे तीसरा रूप सर्वाराधक का है और चौथा रूप सर्व-विराधक का है । इसी प्रकार :—

(क) कुछ साधक जिनमे अपनत्व होता है उनकी बात तो सहते हैं दूसरो की नहीं ।

(ख) कुछ साधक दूसरो की बात या प्रहार को सह लेते है, किन्तु अपनो द्वारा किए गए व्यवहार को सहन नही करते हैं ।

(ग) कुछ साधक न अपनों की सहते है और न दूसरो की सहते है ।

(घ) कुछ साधक अपनों द्वारा किए गए प्रतिकूल व्यवहार को भी सहन करते हैं और दूसरो के दुर्व्यवहार को भी शान्त भाव से सहन कर लेते है ।

इनमे पहला श्रेष्ठ, दूसरा कुछ श्रेष्ठ, तीसरा अत्यन्त निकृष्ट और चौथा श्रेष्ठतर माना जाता है । तितिक्षा के विना साधना-शील व्यक्ति का न तो समाज पर कोई प्रभाव होता है और न ही उसका जीवन आत्मोत्थान मे सहायक हो पाता है । सहन-शील व्यक्ति का मन आकुलता एव अशान्ति से रहित होने के कारण एकाग्र रहता है, अत वह अपने साधना-मार्ग पर सहज स्वभाव से प्रगति करने मे समर्थ होता है । ●

१०. आर्जव

संसार में आने वाले प्रत्येक प्राणी के समक्ष दो मार्ग है—ऋजु और वक्र। मोक्ष-मार्ग को ऋजु मार्ग और नाना विध घुमाओ से भरे सासारिकता के मार्ग को वक्र मार्ग कहा जाता है। मोक्ष मार्ग पर निष्कपटता से ही प्रगति हो सकती है, जिनके मन में पाप की घुडी विद्यमान है वे इस मार्ग पर बढ नही सकते। ससार-मार्ग पर चलने वाले प्राय कपट का आश्रय लेकर ही चलते हैं, क्योकि सासारिक लोगो की यह धारणा है कि निष्कपट व्यक्ति का ससार-पथ पर चलना अति कठिन है।

निष्कपटता ही आर्जव है, आर्जव का सीधा सम्पर्क सत्य से है। सत्य और आर्जव इन का परस्पर अनादि सम्बन्ध है। जहा आर्जव है वही सत्य है, जहां सत्य है वही आर्जव है। ये दोनो गुण ज्ञान की तरह प्रकाशमान हैं, इनके होते हुए अज्ञान या दोप मन के किसी कोने मे छिपे नही रह सकते। अज्ञान, असत्य और कपट इनकी विद्यमानता मे सभी बुराइया और सभी दोप पनपते है तथा खूब लहलहाते हैं और मन-मोहक ऐसे विपैले फल देते है जिनके सेवन करने से साधक विराधक बनकर दुर्गतियो एव दु खो से घिर जाता है।

आर्जव गुण के आगे पाप टिक नही सकते। जिस समय

यह गुण जीवन मे उतर आता है तभी आलोचना के द्वारा सभी दोष या पाप निकल कर वाहर हो जाते हैं। प्रायश्चित्त के द्वारा सभी छिद्र वन्द हो जाते हैं, आश्रवो का निरोध हो जाता है, सवर एवं सयम अपूर्ण से पूर्ण की ओर वढते हैं। आर्जव गुण जैनत्व से ओतप्रोत है। आर्जवगुण से साधक आराधक वनता है और मायाचारिता से विराधक। अपनी साधना मे उत्तीर्ण होना ही आराधकता है, उसमे अनुत्तीर्ण होना ही विराधकता है। आर्जव गुण से युक्त जीव ही मोक्ष-पथ का पथिक वन सकता है। इस गुण की निर्मलता के साथ-साथ सभी गुण स्वयं निर्मल हो जाते हैं, मोह की सभी प्रकृतिया मन्द, मन्दतर एव मन्दतम पड जाती हैं, उनका वल क्षीण हो जाता है और आत्मा का वल वढ जाता है। अपना वल वढ जाने से कर्मो की पराजय निश्चित ही है। यदि हम गभीरता से विचार करें तो ऐसा कहना अनुचित न होगा कि शान्ति, नम्रता आदि गुणों मे भी आर्जव गुण अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इसकी देखरेख मे रहते हुए साधक के हृदय मे कोई भी दोप प्रवेश नही कर सकता।

आर्जव का अर्थ सीधा-पन या भोला पन भी हो सकता है। वचपन तक मानव मे भोला-पन रहता है, आयु-वृद्धि के साथ-साथ भोलेपन का ह्रास होता जाता है। जो साधक अपने इस गुण का ह्रास नही होने देता वह सदैव सुखी रहता है। भोले-पन मे निष्कपटता का उदय स्वाभाविक है, अत. आर्जव गुण से युक्त साधक अपने भोलेपन के कारण वच्चे की तरह तीव्र रागद्वेष से मुक्त रहता है, अत वह सरलता से मोक्ष-पथ पर वढने मे सफल हो जाता है।

११. शुचि

शुचि का अर्थ है पवित्रता। दूसरे शब्दो मे इसको उत्तम शौच भी कहते है। जैसे कोई भी मनुष्य अपने शरीर को और अपने वस्त्रादि उपकरणो को अपवित्र नही होने देता, यदि कारण वश अपवित्र हो भी जाए तो उन्हे अपवित्र नही रहने देता, बल्कि उन्हे शीघ्र ही शुद्ध करने का प्रयास करता है इसी प्रकार हमे मन को भी कभी अपवित्र नही होने देना चाहिये। यदि किसी कारण से मन अपवित्र हो जाए—उसमे बुरे भाव आ जाए तो उन्हे हटाकर शीघ्र ही मन को पवित्र कर लेने का प्रयास करना चाहिये। द्रव्य को द्रव्य से शुद्ध किया जा सकता है, भावो को नही, अशुद्ध भावो की शुद्धि तो शुद्ध भावो से ही हो सकती है।

आचार और विचार मे पवित्रता का होना ही शुचि है, आन्तरिक मैल को धोना ही वास्तविक पवित्रता है। शरीर बाह्य रूप से चाहे पवित्र हो जाय—साफ हो जाय, किन्तु आन्तरिक रूप से इसकी शुद्धि सर्वथा असम्भव है, क्योकि यह अशुचि पदार्थो का स्रोत है। गगा की धारा मे महीनो तक डुबाए रहने पर भी इस की पवित्रता सभव नही। विष्ठा से भरे हुए घड़े को ऊपर से धो देने पर भी क्या वह पवित्र हो सकता है? कभी नही। पानी से इस शरीर की शुद्धि भी औपचारिक होती है, वास्तविक नही।

प्रश्न हो सकता है यदि शरीर दुर्गन्ध पूर्ण एव अपवित्र ही है तो आचार-विचार की पवित्रता इस मे कैसे हो सकती है? इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि जैसे दुर्गन्ध-पूर्ण कीचड मे उत्पन्न कमल सुन्दर एव सुरभि से परिपूर्ण होता है वैसे ही इस अपवित्र औदारिक शरीर मे आचार-विचार भी पवित्र हो सकते हैं और उनके योग से शरीर की महत्ता भी बढ जाती है। विचारो की पवित्रता से मन, हितकर एव प्रिय सत्य से वाणी और आचार की पवित्रता से शरीर पवित्र हो जाता है।

शुचि के दो रूप हैं—आचार की पवित्रता और विचारो की पवित्रता साधक को कभी भी अपने आचार-विचार को अपवित्र नही होने देना चाहिये। यदि कारण वश विषयो एव कषायो के योग से कलुषित हो जाए तो उन्हे तुरन्त पवित्र करने का प्रयास किया जाना चाहिये। शुद्ध विचारो से आचार पवित्र होता है और शुद्ध आचार से विचार पवित्र होते है। आचार और विचार की पवित्रता ही आत्मा की पवित्रता है। आचार-विचार की पावनता बनाए रखने मे ही मानव-जीवन की सफलता है।

महाभारत के युद्ध मे विजय प्राप्त होने के वाद पाण्डवो ने सवमे-पहले वडे समारोह पूर्वक एक राजसूय यज्ञ सपन्न किया, उसके वाद वे नरसहार के महा पाप मल से मुक्त होने के लिये तीर्थ-स्नान को चल पड़े। कोई भी तीर्थ ऐसा नही रह गया जहा पर उन्होने स्नान न किया हो। वे अठसठ तीर्थो मे स्नान करके वापसी पर द्वारका नगरी मे श्री कृष्ण जी के पास पहुचे। उनका मन पाप-भार से अब भी आकुल था। मानसिक शुद्धि एव शाति का कोई भी लक्षण वे अपने जीवन मे नही देख पा रहे थे। अन्त

मे उन्होने श्री कृष्ण जी से कहा कि क्या कोई ऐसी भी नदी है, जिस मे स्नान करके हमारी अन्तरात्मा शुद्ध एव पवित्र हो जाए ?"

श्री कृष्ण जी ने कहा 'युधिष्ठिर ! एक ऐसी नदी रहती है जिसमे तुमने अभी तक स्नान किया ही नही। उसमे स्नान किए विना तुम्हारा मनोरथ फलित होना असभव है। उस नदी का नाम शान्ति नदी है, जोकि सयम-जल से परिपूर्ण है। उसमे सत्य का प्रवाह है, शील और मर्यादा ही उसके तट हैं, उसमे दया की ऊची-ऊची तरगे उठती रहती हैं, उस नदी मे स्नान करो। पानी से अन्तरात्मा की विशुद्धि नही होती।'[1]

इस निर्देश से यह प्रमाणित होता है कि सयम, सत्य, शील और दया की पावन भूमि पर ही मानसिक शान्ति का उदय होता है और मानसिक शान्ति के विना आन्तरिक शुद्धि सर्वथा असम्भव है। उक्त सभी साधन कर्म-मल को दूर करने वाले हैं, अत शान्ति एव समता की नदी मे स्नान करने से ही आत्मा की शुद्धि होती है। विशेषता यह है कि इस नदी मे जो एक वार स्नान कर लेता है वह फिर सदैव पाप-कलुष से दूर रहता है, उसका मन बुरे विचारो से सर्वदा वचा रहता है, उसकी वृत्तिया अन्तर्मुखी हो जाती हैं, उसकी अन्तरात्मा से शुचिता का स्रोत फूट पडता है, फिर उसे वाह्य शुद्धि की आवश्यकता का अनुभव ही नही होता। वह तो क्या उसके शरीर का स्पर्श करने वाले का मन भी शुद्ध हो जाता है। यही तो शुचि-धर्म की विशेपता है। इसी सयम-स्नान को 'योग-सग्रह मे 'शुचि-धर्म' कहा गया है।

१. शान्ति-नदी-सयम-तोयपूर्णा, सत्यवहा शीलतटा दयोर्मि.।
तत्राभिषेक कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥
महाभारत शान्तिपर्व

१२. सम्यग्दृष्टि

जो जीव सम्यग्दर्शन से सपन्न है वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पदार्थों एव तत्त्वो का यथार्थ निश्चय करने की रुचि ही सम्यग्-दर्शन है। तत्त्व-निश्चय की रुचि भी आत्म-परितोप एव आत्मोत्थान के लिए या आध्यात्मिक विकास के लिए होनी चाहिये। आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न एक विशेप प्रकार की ज्ञान-वृत्ति जो ज्ञेयमात्र को तात्त्विक रूप मे जानने की हेय को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि के रूप में उदित होती है वही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के उदय की सूचना देने वाले पाच लक्षण हैं प्रशम, सवेग, निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य।

१ प्रशम – तत्वो के असत् पक्ष की ओर आकर्पण करने वाली वृत्ति का शान्त होना ही प्रशम है।

२. सवेग—ससार और सासारिक वधनो के भय भी सदा के लिये मुक्त होने की भावना ही सवेग है।

३. निर्वेद—ऐन्द्रियिक विषयो मे आसक्ति का न रह जाना ही निर्वेद है, अर्थात् वैराग्य-भाव ही निर्वेद है।

४. अनुकम्पा—दुखी प्राणियो के दुख दूर करने की भावना ही अनुकम्पा है।

५ आस्तिक्य—जीवादि नव पदार्थो को, द्रव्यो को, स्वर्ग, नरक आदि की सत्ता को स्वीकार करना ही आस्तिक्य है।

इन पाचो गुणो से सम्पन्न महासाधक सम्यग्दृष्टि बन जाता है, उसके हृदय से राग द्वेष की तीव्रता मिट जाती है, उसकी आत्मा सत्य के लिए जागरूक बन जाती है, यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यग्दर्शन है।

अनादि कालीन ससार-प्रवाह मे भिन्न-भिन्न प्रकार के दु खो का अनुभव करते-करते जब सब कर्मो की स्थिति अन्त -कोटाकोटी सागरोपम की किसी योग्य आत्मा मे यथा-प्रवृत्ति-करण के द्वारा शेप रह जाती है, तब पहले से भी अधिक परिणामो की शुद्धि हो जाती है जो कि उसके लिये अपूर्व होती है। अपूर्वकरण से राग-द्वेष की वह तीव्रता मिट जाती है जो तत्त्व-ज्ञान और सत्य-निष्ठा मे बाधक है, अपूर्वकरण से जब कर्म-ग्रन्थि या मिथ्यात्व-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, तब इस अवस्था की वृत्ति को अनिवृत्ति-करण कहते हैं। इसी वृत्ति के उदित होने पर सम्यग्दृष्टि जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन के अभिमुख होता है।

यहा तत्त्व शब्द का अभिप्राय—अनादि, अनत स्वतन्त्र सत्तात्मक तत्त्व नही, बल्कि मोक्ष-प्राप्ति मे उपयोगी ज्ञेय भाव है। मोक्षार्थियो एव जिज्ञासुओ के लिए जिन वस्तुओ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है वे ही पदार्थ यहा तत्त्व-रूप से कहे गए है। मोक्ष मुख्य साध्य है, अत मोक्ष और उसके साधनो को जाने बिना मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्ति नही हो सकती।

मोक्ष के विरोधी तत्त्वो का और उन विरोधी तत्त्वो के कारणो के स्वरूप का ज्ञान हुए बिना भी मुमुक्षु अपने पथ मे

दृढता से प्रवृत्ति नहीं कर सकता, अत तत्त्व-विषयक पक्ष और विपक्ष दोनो का वास्तविक ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है।

आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है और आत्म-ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है। मिश्री मे जैसे उज्ज्वलता और माधुर्य एक साथ रहते हैं, वैसे ही आत्मा मे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनो एक साथ रहते हैं। जब जीव मे सम्यग्दर्शन का उद्भव होता है, तब उसकी चेतना ज्ञान रूप मे परिणत हो जाती है। जीव का वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञानी हेय और हेय के कारणो को विष समझकर सर्वदा के लिए छोड देता है और उपादेय के कारणों को अमृत समझकर सदा-सदा के लिए ग्रहण कर लेता है।

अज्ञान का स्वरूप इससे विपरीत है। अज्ञान ससार का कारण है और ज्ञान मोक्ष का, अज्ञान का सहचारी मिथ्यात्व है और ज्ञान का सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते ही जीव का दृष्टिकोण बदल जाता है, आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का उदय हो जाता है। सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विरोधी कारणों के उपस्थित होने पर भी स्थिर रहने वाला साधक स्थित-प्रज्ञ कहलाता है। सम्यग्दर्शन के विरोधी कारणों को जानना और उनसे सावधान रहना सम्यग्दृष्टि के लिये अत्यावश्यक है। वे विरोधी कारण ही सम्यग्दर्शन के दूषण अथवा उसके अतिचार कहलाते हैं, जो सख्या मे पाच है :—

१. शंका—शका का अर्थ सदेह और भय है। जिन-भाषित तत्त्वो के प्रति सदेह का होना शंका है और जिसका मन सात प्रकार के भयो से व्यथित है वह शकालु है। पहले भय के कारण

शका उत्पन्न होती है और शकित पदार्थ का प्रत्यक्ष होने पर मन भय से व्याकुल हो जाता है।

२ कांक्षा—धर्माचरण के द्वारा सुख-समृद्धि पाने की इच्छा काक्षा है और एकान्तवादियों के दर्शन द्वारा स्वीकृत इच्छा भी काक्षा है।

३ विचिकित्सा—इसके दो रूप हैं—धर्म के फल मे सदेह और चारित्रवान् से घृणा करना। निन्दनीय व्यवहार करना या कुदृष्टियो से घृणा करना या मलमूत्र आदि अपावन पदार्थो से घृणा करना भी विचिकित्सा है।

४. पर-पाखण्ड-प्रशंसा—मिथ्यादृष्टियो की प्रशंसा और स्तुति करना।

५ पर-पाखण्ड-परिचय—मिथ्यादृष्टियो के अधिक परिचय मे रहना या उनकी सेवा करना।

इन पांच अतिचारो से सम्यग्दर्शन दूषित हो जाता है। दूषित सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व के अभिमुख हो जाता है। मिथ्यात्व सब विपत्तियो का मूल कारण है।

सम्यग्दर्शन के आठ भूषण हैं, जिन से सम्यग्दर्शन विशुद्ध, विशुद्धतर और विशुद्धतम होजाता है। इन्हे ही दूसरे शब्दो में दर्शनाचार भी कहते हैं, जैसे कि —

१. नि शकित—सम्यग्दृष्टि को सदैव असदिग्ध और अभय ही रहना चाहिए।

२. नि कांक्षित—जिन-धर्म मे अटल विश्वास रखते हुए

धर्माचरण के फलरूप मे भौतिक सुख-समृद्धि की कामना भी नही करनी चाहिये।

३ निर्विचिकित्सा—सम्यग्दृष्टि कभी भी धर्मफल के प्रति सदेह नही करता और न ही किसी जड चेतन की अवहेलना करता है और न ही उनसे घृणा करता है तथा उनकी निन्दा भी नही करता।

४ अमूढदृष्टि—विभिन्न धर्मावलम्बियो की विभूति देखकर जो मोह उत्पन्न होता है उसे मूढता कहा जाता है। मिथ्यादृष्टियो की प्रशसा एव स्तुति करना उन्हे पुरस्कार देना ये सब मूढता के ही परिणाम है। सम्यग्दृष्टि अपने जीवन मे कभी भी मूढता नही आने देता।

मूढता तीन प्रकार की होती है लोक-मूढता, देव-मूढता और पाषण्ड-मूढता। नदी स्नानादि मे धार्मिक विश्वास करना लोक-मूढता है। राग-द्वेष के वशीभूत हुए देवो की उपासना करना देव-मूढता है और हिंसा आदि पाप-कार्यो मे प्रवृत्त साधुओ की सेवा-सुश्रूषा करना पाषण्ड मूढता है।

५ उपबृंहण—सम्यग्दर्शन की पुष्टि करना, धर्मात्माओ का या श्री-सघ-सेवियो का उत्साह बढाना उपबृंहण है। कही-कही उपबृंहण के स्थान पर उपगूहन शब्द भी उपलब्ध होता है, जिसका भाव है अपने गुणो का गोपन करना या प्रमादवश हुए किसी के दोषो का प्रचार करना।

६. स्थिरीकरण—धर्म-मार्ग से या न्याय-मार्ग से फिसलते हुए को पुन: धर्म-मार्ग मे स्थिर करना।

७ वात्सल्य—मोक्ष के कारणीभूत धर्म मे और अहिंसा मे श्रद्धा रखना तथा सहधर्मियो मे वात्सल्य-भाव रखना, आहार-पानी, वस्त्र एव औषध आदि से उनकी सेवा करना, विनय करना भक्ति और प्रीति के भाव रखना वात्सल्य है।

८. प्रभावना—जैसे भी हो जिन-शासन की महिमा बढाना, तीर्थ की उन्नति हो वैसे कार्य करना, अपनी आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चारित्र से प्रभावित करना प्रभावना है। ये सम्यग्दर्शन के आठ आचार है। साधक को इनकी आराधना नित्यप्रति करनी चाहिए।

सम्यग्दृष्टि के रूप—

आत्म-शुद्धि, दृष्टि-शुद्धि, उपाय-शुद्धि और ध्येय-शुद्धि इन चारो का समावेश सम्यग्दृष्टि मे होता है।

कषायो की मन्दता के कारण आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्तिका होना आत्म-शुद्धि है।

सत्य के परीक्षण के लिए द्वेष तथा पक्षपात से दूर रहकर प्रत्येक वस्तु को अथवा प्रत्येक विचार को तटस्थ वृत्ति से देखने और समझने की क्षमता ही दृष्टि-शुद्धि है।

वस्तु के जानने के जितने भी उपाय हैं उनके निर्दोष तथा वैज्ञानिक परीक्षण ही उपाय-शुद्धि कहा जाता है।

साधक के सामने किसी महान लक्ष्य का रहना ध्येय-शुद्धि है।

इनमे से पिछली तीन शुद्धियां तभी जीवन मे आ सकती हैं, जबकि पहली अर्थात् आत्मशुद्धि प्राप्त हो जाय, उसके विना अन्य शुद्धियो की प्राप्ति असम्भव ही होती है।

सम्यग्दृष्टि साधक की साधना निर्दोष होनी चाहिये। साधना

के त्यागने योग्य चार दोष बतलाए गए है। जैसे कि दग्ध, शून्य, अविधि और अतिप्रवृत्ति।

दग्ध—एक क्रिया को समाप्त किए बिना दूसरी क्रिया प्रारम्भ करने से पहली क्रिया भस्म हो जाती है।

शून्य—जिस साधना मे उपयोग नही है, मन की स्थिरता एव सलग्नता नही है, वह द्रव्य साधना है भाव-साधना नही।

अविधि—प्रत्येक क्रिया विधि-पूर्वक ही करनी चाहिए अविधि से की गई कोई भी क्रिया सफल नही होती।

अतिप्रवृत्ति—अपनी शक्ति से भी अधिक साधना करना अतिप्रवृत्ति है।

सम्यग्दर्शन के भेद—

सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। सम्यग्दर्शन के आवरणभूत दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशम,क्षयोपशम, और क्षय से इसका उद्भव होता है। इन भावो से सम्यग्दर्शन की शुद्धि का तारतम्य जाना जा सकता है। औपशमिक की अपेक्षा क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा क्षायिक भाव वाला सम्यग्दर्शन उत्तरोत्तर विशुद्ध एव विशुद्धतर होता है। चौथे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक औपशमिक, चौथे से लेकर सातवे गुण स्थान तक क्षायोपशमिक और भवस्थ की अपेक्षा चौथे से लेकर चौदहवे गुण स्थान तक क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। सिद्धो की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दर्शन-सादि अनन्त है। औपशमिक सम्यग्दर्शन को स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी गई है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की स्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छयासठ सागरोपम से कुछ अधिक तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति सादि अनन्त है। जिस जीव मे जो

भी सम्यग्दर्शन है उसी से वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। सम्यग्दृष्टि बनते ही अनेक आध्यात्मिक गुणो को प्राप्त कर साधक सफलता के मार्ग पर अग्रसर होने लगता है।

अभय और निर्भय

जो साधक स्वय भय से मुक्त है और दूसरो को भी भय से मुक्त करने की क्षमता रखता है वह अभय है और जो साधक भयानक वातावरण और भय के अनेक कारण उपस्थित होने पर भी भयभीत नही होता वह निर्भय है। सम्यग्दृष्टि मे किसी भी प्रकार का भय होता ही नही, वह किसी से डरना जानता ही नही। अधिकाश मानसिक व्याधियां भय से उत्पन्न होकर फिर वे स्वय भय-उत्पादक हो जाती है, जैसे किसी मा को लडकी कालान्तर मे स्वय मा बन जाती है। भय उत्पन्न होने के तेरह कारण है जैसे कि—

१ **अज्ञान** जो व्यक्ति जिस काम से अनभिज्ञ होता है उसे वह काम करते समय भय लगता है तथा जिस स्थान के सम्बन्ध मे जानकारी नही होती है वहा जाते हुए मनुष्य भयभीत होता है।

२ **संशय**—मानव जब शकाशील होता है तब उसकी सशयात्मिका वृत्ति भय-उत्पादिका बन जाती है।

३ **उदासीनता**—मध्यस्थ भाव को उदासीनता कहते हैं, किन्तु यहा यह अर्थ अभीष्ट नही है। यहां इसका अर्थ है उत्साह-हीन अवस्था। उत्साहहीन व्यक्ति सर्वदा त्रस्त रहता है।

४. **अनिश्चितता**—मानसिक अस्थिरता से भय उत्पन्न होता है।

५ अनैतिकता—चारित्र की निर्बलता से भय पैदा होता है।

६. अशक्तता—शारीरिक एव मानसिक दुर्बलता और असमर्थता भय की मां है।

७. अयोग्यता—जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य नही है उसे वह कार्य करते हुए भय की अनुभूति अनायास ही होने लग जाती है।

८. अकर्मण्यता—जहा आलस्य है वहा भय मुह खोल कर आता है।

९. दीनता—पारिवारिक दृष्टि से, स्वभाव की दृष्टि से, उत्साह की अपेक्षा से, धन की अपेक्षा से जब मानव को अपने दीन-हीन होने का आभास हो जाता है, तब वह भय के मुह मे जा गिरता है।

१०. पर-वशता—जो मानव अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को खो देता है वह पराधीन हो जाता है और पराधीन व्यक्ति सर्वदा भयभीत रहता है।

११ असहनशीलता—जिस मे सहनशीलता नही होती उसे भी भय डराता ही रहता है।

१२ व्यसन—व्यसनी व्यक्ति सदैव भयभीत ही रहता है।

१३ अविश्वास—जिस को किसी पर विश्वास है ही नही,वह सदैव भयभीत रहता है।

सम्यग्दृष्टि साधक मे भय के इन कारणो का अभाव रहता है। वह किसी से डरना जानता ही नही, क्योकि जब कारण का ही अभाव है तो कार्य का अभाव होना स्वत-सिद्ध है।

सम्यग्दृष्टि का इष्ट सदाचार होता है। सद्+आचार इन दो शब्दो से सदाचार शब्द बनता है। क्षमा, सहिष्णुता, विनय, शील, सेवा और समर्पण इनके सामूहिक रूप का नाम सदाचार है। विवेकशीलता, न्याय प्रियता, वीरता और सच्चरित्रता इन विशेष गुणो के मध्य मे सम्यग्दृष्टि सन्तुलित रूप मे रहता है। जैसे अग्नि मे से मणि-मन्त्र एव औषधि के द्वारा उष्णता दूर की जा सकती है, वैसे ही राग-द्वेष भी मन के धर्म है, उन्हे योगक्रिया द्वारा दूर किया जा सकता है। राग और द्वेष मे भय छिपा हुआ है, जब शरीर पर राग होता है, तब रोग एव मृत्यु का भय उपस्थित हो जाता है, यदि धन पर राग है तब धन-नाश का भय, यदि काम-गुणो मे राग है तो वियोग का भय, यश पर राग है तो अपयश का भय, यदि भौतिक सुख पर राग है तो दु ख का भय उपस्थित हो जाता है। इसी भय-मुक्तता को लक्ष्य मे रखकर सम्यग्दृष्टि वीतरागता एव द्वेषमुक्तता की ओर बढ़ता है। ●

१३. समाधि

आत्मा मे या परमात्मा मे तल्लीन हो जाना समाधि है। ध्याता, ध्यान और ध्येय की भिन्नता को भूलकर स्वय ध्येयमय हो जाने की अवस्था ही समाधि है। इस अवस्था मे, मानसिक आनन्द असीम हो उठता है। चेतना की बाह्य वृत्तिया नष्ट जैसी हो जाती है, बाह्य पदार्थो की प्रतीति ही नही रह जाती, साधक सब क्लेशो से मुक्त होकर अनेक प्रकार की सिद्धिया प्राप्त कर लेता है।

सम् पूर्वक आधि शब्द मे इस की निष्पत्ति हुई है। जब मानसिक रोगो अर्थात् सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ मोह, राग, द्वेष, चिन्ता, भय, शोक और भ्रान्ति आदि रोग-समूह से मन मुक्त हो जाता है तब वह पूर्णतया स्वस्थ हो जाता है, मन की उस स्वस्थ अवस्था को भी समाधि कहा जाता है।

समाधि परमानन्द पाने की एक चाबी है, दुर्गतियो से निकलने का महामार्ग है, मन की वृत्तियो को अन्तर्मुखी बनाने का अमोघ उपाय है, अत्यधिक श्रम, अपथ्य आहार और अनुचित व्यवहार, दूषित निवासस्थान, अकर्मण्यता, व्याधि, सशय, प्रमाद, विषयाभिलाषा, भ्रान्ति-दर्शन, अस्थिरचित्तता मन की असमर्थता आदि सब समाधि के बाधक तत्त्व हैं। वस्तुत देखा जाए तो चित्त की

प्रसन्नता ही समाधि का फलितार्थ है। तपस्या तथा धर्म-चिन्तन करते हुए कर्मो का विशिष्ट क्षयोपशम या क्षय हो जाने से जो चित्त मे विशुद्ध आनन्द की अनुभूति होती है वही समाधि है। चित्त-समाधि के कारणो को स्थान कहते हैं, वे कारण या स्थान इस प्रकार हैं—

चित्तसमाधि-स्थान

१. **धर्मलाभ**—जिसके मन मे पहले धर्म की भावना नहीं उसके चित्त मे पहली वार धर्म-भावना आ जाने पर चित्त मे हर्षोल्लास भर जाता है।

२ **शुभ स्वप्न**—जिस सर्वोत्तम स्वप्न की कभी मनुष्य ने कल्पना भी नही की-उस उत्तम महास्वप्न के देखने पर उसके मन मे विशेष आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

३ **जाति-स्मरण**—अपने पूर्व भवों को देख लेना जातिस्मरण ज्ञान कहलाता है। अनुकूल निमित्त मिलने पर जव यह ज्ञान उत्पन्न होता है तव चित्त मे आनन्द की अनुभूति होती है।

४. **देव दर्शन** जिसने पहले कभी देव-दर्शन नही किया, यदि उस व्यक्ति को अपने पूर्ण वैभव के साथ पहली वार दसो दिशाओ को प्रकाशित करते हुए किसी देव के दर्शन हो जाएं तो वह भी चित्तसमाधि का एक कारण वन जाता है।

५ **अवधि-ज्ञान**—पहली वार अवधिज्ञान के द्वारा लोक के स्वरूप को जान लेने पर चित्त मे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है।

६. **अवधि-दर्शन**—पहली वार उत्पन्न हुए अवधिदर्शन से

समस्त लोक को जान लेने पर चित्त मे समाधि अर्थात् असीम आनन्द की अनुभूति होती है।

७. मन पर्यव-ज्ञान—ढाई द्वीप मे रहे हुए संज्ञी जीवो के मनोगत भावो को जब ज्ञानी मन पर्यव-ज्ञान द्वारा पहली बार जान लेता है, तब ज्ञान और ज्ञेय की सफलता से उसका चित्त अपूर्व आनन्द को उपलब्धि करता है।

८. केवलज्ञान—जब किसी महान् साधक को केवलज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान से वह सम्पूर्ण लोक-अलोक का साक्षात्-कार करता है, तब सर्वतोमहान् ज्ञान और सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ ये दोनो उस ज्ञानी के चित्त के लिये आनन्दवर्धक बन जाते हैं।

९ केवल-दर्शन—जब किसी योगी को साधना के क्षेत्र में अग्रसर होते हुए केवलदर्शन उत्पन्न हो जाता है, तत्क्षण सम्पूर्ण लोक और अलोक को प्रत्यक्ष कर लेने पर वह ज्ञानी अतीव आनन्द की अनुभूति करता है।

१० निर्वाण-काल—जब केवली जन्म और मरण को तथा उनके मध्यवर्ती सभी प्रकार के दु खो को और क्रियमाण, सचित तथा प्रारब्ध इन कर्मो को सर्वथा क्षय कर देता है, तब सादि-अनन्त अवस्था को प्राप्त करते समय जो सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है, वह भी एक सर्वोत्तम समाधि है।[1]

प्रश्न हो सकता है कि जब ज्ञानावरणीय कर्म और दर्शना-वरणीय कर्म एक साथ क्षय होते है और एक साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होते है तो इनको अलग-अलग चित्तसमाधि

१. दशाश्रुतस्कन्ध, दशा पाचवी तथा समवायाग सूत्र, समवाय १०

वताने का क्या कारण हो सकता है ? इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जीव का उपयोग दोनों में से जिस ओर होगा वही चित्तसमाधि का कारण बन जाएगा। उत्पन्न होते ही यदि उपयोग केवलज्ञान मे है तो केवलज्ञान समाधि का कारण बन जाएगा। यदि केवलदर्शन मे उपयोग होगा तो केवलदर्शन समाधि का कारण बनेगा। केवलज्ञान साकारोपयोग और केवलदर्शन निराकारोपयोग है।

ब्रह्मचर्य-समाधि

ब्रह्म शब्द आत्मा, परमात्मा, तप और वेद के लिये प्रचलित है, चर्य शब्द विचरण, आसेवन, अध्ययन एव निरोध अर्थ मे रूढ है। आत्मा जब अपने स्वरूप मे या परमात्मा के गुणो मे विचरण करता है, तप का आचरण करता है या शास्त्रो का अध्ययन करता है, तब मन स्वय ही समाधिस्थ हो जाता है, क्योकि तत्त्व-चिन्तन, मनन, श्रवण, निदिध्यासन, अनुप्रेक्षा आदि द्वारा नए-नए ज्ञान मे मन को लगाने से ब्रह्मचर्य के बाधक तत्त्वो का निरोध स्वय हो जाता है। ब्रह्मचर्य की आराधना के दो ही मार्ग है—ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग। ज्ञानमार्ग से जिस ब्रह्मचर्य की सिद्धि की जाती है वह समाधिजनक होता है, किन्तु क्रियामार्ग से भी ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकती है। जब कोई व्यक्ति किसी ऐसे कार्य मे व्यस्त रहता है जिससे काम-वासना के उदय का कभी अवसर ही नही मिलता, तब क्रिया-समाधि की अवस्था होती है। इन दो मार्गों मे से ज्ञानमार्ग ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिये सर्वश्रेष्ठ एव समाधिजनक है। क्रियामार्ग समाधि-जनक होने में वैकल्पिक है।

गुप्ति और वृत्ति—

गुप्ति का अर्थ रक्षा है और वृत्ति का अर्थ है वाड। जैसे वाड

से खेती की रक्षा होती है वैसे ही ब्रह्मचर्य की रक्षा भी वाड से होती है। खेती की रक्षा के लिये चारो ओर वाड लगाई जाती है, इसी प्रकार जव ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए दस प्रकार की वृत्तिया रूपी वाडे लगाई जाती है तभी गुप्ति हो सकती है। एक भी वाड दुर्वल होने से समाधि भग हो जाती है। समाधि भग होने से ब्रह्मचर्य समाप्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य स्वय भगवान है—(तं वभं भगवत)।

जैसे भगवत् सिद्धि किसी विशेप साधना से ही हो सकती है, वैसे ही ब्रह्मचर्य की सिद्धि भी ज्ञानमार्ग और तपोमार्ग से हो सकती है। 'तवेसु वा उत्तमं वभचेर—सभी तपो मे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तप है।' ब्रह्मचर्य के शिखर पर तपोवल और ज्ञानवल से ही पहुचा जा सकता है। इनके विना जीवन मे ब्रह्मचर्य भगवान का अवतरण और अवस्थान नही हो सकता है। ब्रह्मचर्य की साधना करने का अधिकार स्त्री और पुरुप दोनो को है। स्त्री के लिए स्त्री सजातीय है और पुरुप विजातीय है। पुरुप के लिए पुरुप सजातीय है। ब्रह्मचर्य की दस वाडे हैं। सभी की सभी वाडे सुदृढ होनी चाहिये तभी ब्रह्मचर्य भगवान की आराधना सफल हो सकती है।

ब्रह्मचर्य की दस वाड़ें :—

१ पहली वाड़—जिस स्थान मे या मकान मे पशु-नपु सक या विजातीय प्राणी रहते हो वहा ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी का ठहरना उसके ब्रह्मचर्य-व्रत के लिए हानिकारक होता है। यह सभी जानते हैं कि जहा विल्ली रहती है वहां मूपक के लिये ठहरना हानिकारक है।

२ दूसरी वाड़—ब्रह्मचारी विजातीयो की जाति, कुल, रूप,

आदि का वर्णन न करे, क्योकि उनकी कथाओ, विकथाओ मे रुचि लेने पर ब्रह्मचर्य का भग होना स्वाभाविक है। यह सर्व-प्रसिद्ध है कि नीबू आदि खट्टी वस्तु की बात करने मात्र से मुह मे पानी आए बिना नही रहता।

३ तीसरी बाड—विजातीयो के साथ एक आसन पर न बैठे। जिस आसन या स्थान पर पहले से ही विजातीय आसीन हो उसके उठ जाने पर भी दो घडी तक वहा बैठने का प्रयास न करे। जैसे सतप्त भूमि पर रखे हुए घी के घडे मे घी पिघले बिना नही रह सकता, वैसे ही ब्रह्मचर्य भी वहा पिघल जाता है।

४ चौथी बाड़—विजातीयो के आकर्षक मनोहर अग-उपाङ्गो को आसक्ति पूर्वक न देखे और दृष्टि के साथ दृष्टि भी न मिलाए। क्योकि ऐसा करने पर ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। कच्ची आखो से सूर्य को देखने पर आखो को नुकसान पहुचता ही है।

५ पांचवीं बाड—दीवार से, पर्दे से, झरोखे से, खिडकी से अन्दर होने वाले विजातीयो के अश्लील गीत, रोने के शब्द, हसी मजाक, विलाप, वासनोत्तेजक शब्द आदि आसक्ति पूर्वक न सुने न देखे। क्योकि बादल की गर्जना सुनकर जैसे मोर नाचने लगता है वैसे ही मन भी अश्लील बातें सुनकर अश्लीलता की ओर अग्रसर होने लग जाता है।

६ छटी बाड़—गृहस्थ अवस्था मे जो काम-चेष्टाए देखी सुनी या की हैं, उनका पुन स्मरण न करे, क्योकि भुक्त भोगो की स्मृति वासना को उत्तेजित कर ब्रह्मचर्य को भग कर देती है, जैसे अभीष्ट जन-धन के नष्ट होने पर जब-जब उनकी याद आती है तब-तब मन मे शोक उमडे बिना नही रहता। जिसका स्मरण

ही मानसिक शान्ति को भग कर देता हो उसका स्मरण न करना ही श्रेयस्कर होता है।

७ सातवीं वाड़—प्रणीत अर्थात् पौष्टिक भोजन न करे, क्योकि सरस पौष्टिक वासनोत्तेजक पदार्थों का आहार करना भी ब्रह्मचारी के लिए हानिकारक होता है। जैसे सन्निपात के रोगी के लिए दूध और मिश्री का भोजन प्राणनाशक वन जाता है वैसे ही प्रणीत आहार ब्रह्मचर्य का नाशक वन जाता है।

८ आठवीं वाड़—ब्रह्मचारी नीरस एव शुष्क भोजन भी ठूस-ठूस कर न खाए, प्रमाणोपेत आहार-पानी का ही उपयोग करे। श्रीकृष्ण कहते हैं—

"युक्ताहार-विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दु खहा।"

समुचित आहार, समुचित विहार, समुचित क्रिया, समुचित निद्रा होने पर ही साधक के लिये योग दु ख विनाशक वन पाता है।

अधिक खान-पान करने से पेट मे वह शुष्क भोजन फूल कर शारीरिक विकृतियो को उत्पन्न करता है। जैसे जीर्ण-शीर्ण थैली मे रखा हुआ रत्न निकल जाता है वैसे ही ब्रह्मचर्य-रत्न भी विकृत शरीर से निकल जाता है।

९ नौवीं वाड़—साधक स्नान, मजन, अलकार, विभूषा आदि से शरीर विभूषित न करे। अलकृत शरीर वाला व्यक्ति विजातीयो के लिए प्रार्थनीय होता है, क्योकि विभूषा का प्रयोजन विपरीत लिंगी का आकर्षण ही होता है। यदि कोई पथिक चमकीले वस्त्र मे लपेट कर रत्न को अपने पास रखे तो चोर ठग आदि उसे

हथियाने की कोशिश किये विना नही रहते, गूदड़ियो मे ही लाल आदि रत्न सुरक्षित रह सकते हैं।

१०. दसवीं बाड़—ब्रह्मचारी काम-वासना के अनुकूल शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श का अनुभव करने की कभी भी कोशिश न करे, क्योंकि ये काम-गुण हैं। काम-गुण मानव को अपनी ओर नही खीचते, वल्कि मानव काम-गुणो को आसक्ति के साथ अपनी ओर खीचता है।

एक वाड के उल्लघन करने से भी अनेक विपत्तिया और अनेक तरह की हानिया हो सकती है, यदि अनेको का उल्लघन किया जाय तो शान्ति और समाधि कहा स्थिर रह सकती है? तीन लोक की सपत्ति भी जिस की कीमत नही पा सकती, उसकी रक्षा की जवावदारी साधक पर कितनी है? यह निश्चय और ज्ञान का ही विपय है।[1]

दशविध समाधि—

सम्यग् निवृत्ति और सम्यक् प्रवृत्ति ये दोनो समाधि के मुख्य अग है। अपूर्व आनन्द, परमशान्ति और सात्विक अवस्था मे मन का प्रवेश रूप जो समाधि है उसके दस कारण माने गए है, जैसे कि —

१. प्राणातिपात-विरमण—जव मानव छोटी-बडी सभी प्रकार की हिंसा से निवृत्ति पाकर अनिमेप दृष्टि से अहिंसा भगवती के दर्शन करता है, तव मन समाधि का अनुभव करता है। हिंसा से निवृत्त होकर अहिंसा की ओर वढना भी समाधि है।

१ उत्तरा० अ० १६।

२ मृषावाद-विरमण—असत्य के सभी भेदो मे पूर्णतया निवृत्त होना और निर्दोप सत्य की ओर प्रवृत्ति करना, सत्य भगवान के दर्शन करना, ये सब समाधि-मन्दिर मे प्रवेश करने के मार्ग है।

३ अदत्तादान-विरमण—विना आज्ञा के किसी की वस्तु को ग्रहण करना, अदत्तादान है। किसी भी जड-चेतन आदि छोटी-वडी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा लिए विना न उठाना अदत्तादान-विरमण है। इससे भी मन समाधिस्थ होता है।

४ मैथुन-विरमण—काम-वासना के छोटे-वडे सभी पहलुओ से निवृत्त होना और ब्रह्मविद्या मे सलीन होना समाधि का चौथा कारण है।

५ परिग्रह-विरमण—कनक और कामिनी से, चल और अचल सपत्ति से, सोने-चादी से, धन-धान्य से, पशु-पक्षी से, यान-वाहन से अर्थात् ममत्व के सभी साधनो से निवृत्त होकर उत्तम संतोप मे प्रवृत्ति करने पर मन की विपमता समाप्त हो जाती है और साधक का समता के क्षेत्र मे प्रवेश हो जाता है। समता के असीम क्षेत्र मे प्रवेश करने से समाधि स्वय हो जाती है।

६ ईर्या-समिति—सयम, विवेक एव यतना से काय की प्रवृत्ति करना।

७. भाषा-समिति—सयम, विवेक एव यतना से भाषा बोलना।

८. एषणा-समिति—आहार-पानी, वस्त्र, पात्र, मकान, चौकी, पट्टा आदि निर्दोप एव कल्पनीय वस्तुओ का सयमी जीवन के अनूकूल यतना से ग्रहण करना।

९. आदान-भाण्ड-मात्र निक्षेप-समिति—अपने अधिकार मे रही हुई किसी वस्तु को उठाते और रखते हुए यतना से प्रवृत्ति करना।

१० उच्चार - प्रस्रवण - खेल - जल्ल - मल्ल-परिष्ठापनिका समिति—जहा न कोई आता हो और न देखता हो, अचित्त भूमि देखकर शरीर की सब तरह की मैल को यतना से यदि त्यागा जाए तो सभी समितिया समाधि-जनक हो जाती हैं।[1]

चतुर्विध समाधि—

विनय-आराधना, श्रुत-अध्ययन, निर्दोप तप और निरतिचार आचार इन चार भेदो मे से यदि किसी एक भेद मे कोई सलग्न है तो उसे जिस क्षण की आराधना करते हुए अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है उसके लिये वही क्षण समाधि रूप हो जाता है।[2] जिसको जिस कारण से समाधि प्राप्त हुई है उसी कारण के अनुरूप ही उस समाधि का नाम पड जाता है। जैसे कि विनय-समाधि श्रुत-समाधि, तप -समाधि और आचार-समाधि। समाधि कोई भी हो उससे मानसिक शान्ति एव असीम आनन्द की उपलब्धि अवश्य ही होती है। समाधि शारीरिक भान से ऊपर उठकर मन की स्थिरता है और इस मानसिक स्थिरता से आनन्द के दिव्य स्रोत अनायास ही उमडने लगते हैं, अत साधक को समाधिस्थ होकर योग-मार्ग पर अग्रसर होते रहने का प्रयास करते रहना चाहिये। ●

१ स्थानाग दसवा स्थान।

२. दशवैकालिक सूत्र अ० ९ वा उ०४।

१४. आचार

जिसका पालन चारो ओर की मर्यादाओ को ध्यान मे रख कर किया जाए वही आचार है दूसरे शब्दों मे उत्तम जनो द्वारा आचरित कार्यो का आचरण करना ही आचार है।

आचार पाच प्रकार का होता है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार। लोक व्यवहार मे जैसे प्रत्येक क्षेत्र के कार्य-विभाग मे विशेष जानकारी की आवश्यकता रहती है वैसे ही धर्म-क्षेत्र मे भी विशेष तात्त्विक जानकारी के बिना कोई भी साधक आगे नही बढ सकता। साधक अध्ययन के द्वारा जो श्रुतज्ञान की अभिवृद्धि करता है वही ज्ञानाचार है, अथवा नए-नए ज्ञान की प्राप्ति और प्राप्त ज्ञान की रक्षा के लिये सद् प्रयत्न को ही ज्ञानाचार कहा गया है।

सम्यग्दर्शन हठवाद और रूढिवाद का विरोधी तत्त्व है। सत्य और असत्य की परख में निश्चय लाने वाला और साधना के क्षेत्र मे दृढता लाने वाला यदि कोई तत्त्व है तो वह सम्यग्दर्शन ही है। इसकी उपस्थिति मे जीव सम्यक्प्रवृत्ति और सम्यग्निवृत्ति स्वत. ही करने लगता है। जीवादि नवतत्त्वो का ठीक-ठीक ज्ञान तथा तत्त्ववेत्ता की विनय-भक्ति एव सेवा करना ये दोनो सम्यक् -प्रवृत्तिया है। इन्ही सत्-प्रवृत्तियो को सम्यक्-चारित्र कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन साधक को चारित्र-भ्रष्टता और एकान्त मिथ्या-वादियो की सगति से दूर रखता है। सम्यग्दृष्टि मोक्ष के उपायो मे, जिनवाणी मे एव अखण्ड सत्य मे नि शकित रहता है। मिथ्यात्व या मिथ्यावादो और सासारिक सुख-साधनो से वह निस्पृह रहता है। वह भयकर विपत्तियो से घिर जाने पर भी धर्म फल के प्रति सन्देह नही करता। मिथ्यादृष्टियो के चमत्कार को देख कर भी उसकी चेतना मूढता से दूर रहती है। वह तीर्थङ्करो के द्वारा बताए हुए मार्ग पर चलने वालो की प्रशसा करता है। जो व्यक्ति सन्मार्ग से फिसल रहा हो उसे पुन. धर्म मे स्थिर करता है, सह-धर्मी लोगो पर वात्सल्य एव प्रीति रखता है, मार्गानुसारी जीवो को प्रभावना के द्वारा जिन-मार्ग पर लाता है। इस प्रकार के सभी कार्य दर्शनाचार कहलाते है।

सर्व देश और सर्व-काल मे विना किसी आगार या अपवाद के जिन व्रतो की आराधना की जाती है, उन्हे सार्वभौम महाव्रत कहते हैं। महाव्रतो मे साधक को किसी प्रकार की छूट नही दी जाती। जिन मे छूट दी जा सकती है, वे महाव्रत नही, बल्कि अणु-व्रत कहलाते है। महाव्रत ग्रहण करते समय साधक कोई छूट नही रखता, वह तीन योग और तीन करण से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग कर देता है, इन से पूर्णतया निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेता है। इतना ही नही पृथ्वी-काय, अप्काय, तेजस्-काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय की हिंसा का तीन योगो और तीन करणो से जीवन भर के लिये त्याग कर देता है।

महाव्रत एक ही नही प्रत्युत पाच है। कोई भी महाव्रत न बडा है और न छोटा, सभी अपने-अपने महत्त्व और उपयोगिता

की दृष्टि से श्रेष्ठ एव महत्त्वपूर्ण है। इनका अस्तित्व सभी चारित्रो मे पाया जाता है।

रात्रि-भोजन-विरमणव्रत नित्य तपस्या का परिचायक है। इस तप की साधना के लिये रात्रि में जीवन भर के लिये सभी तरह के खान-पान का परित्याग, इतना ही नही रात्रि को खाने-पीने की वस्तुओ के सग्रह का भी त्याग, यहां तक कि रात्रि को औषधि-सेवन का भी त्याग कर देना होता है। अन्य सभी महाव्रतो और रात्रिभोजन-विरमणव्रत मे साधक किसी प्रकार की छूट या आगार नही रखता और न आगार रखने वाले को महाव्रतो का पालक कहा जाता है।

सार्वभौम महाव्रतो की रक्षा समिति और गुप्ति से की जाती है। ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-भण्डमात्र-निक्षेपणा-समिति और उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-मल-परिठाव-णिया-समिति—इन पांचो समितियो का सम्यक्तया पालन करने को ही समिति या सम्यक्प्रवृत्ति भी कह सकते है। जब साधक अशुभ सकल्पो से मन को, अशुभ एव अमगल वाणी से वचन को और अशुभ प्रवृत्ति से काया को नियन्त्रित करता है तब उसी को गुप्ति या सम्यग्निवृत्ति कहते हैं। चारित्राचार के सभी भेद समिति एव गुप्ति मे निहित हो जाते हैं।

जिस तप से विषय, कषाय और अन्तर्मल भस्म हो जाएं, अहिंसा भगवती की सफल एव पूर्ण आराधना हो जाए, जीवन सन्तोष से परिपूर्ण हो जाए शरीर पर मम-त्व भी न रहने पाए, अध्ययन और ध्यान में मन सलीन हो जाए, पूज्य जनो के प्रति विनयभक्ति, प्रीति एव सेवा की भावना जाग जाए, राग, द्वेष, मोह बिल्कुल मन्द पड जाए, मान, एव प्रतिष्ठा की भूख शान्त

हो जाए, खान-पान के पदार्थों मे आसक्ति न रहे, परीषह और उपसर्ग उपस्थित होने पर उन्हे समभाव से सहन करने लगे, स्वर्गीय सुख-साम्राज्य से विरक्त रहे, निदान न करे, नित्यप्रति कष्ट सहने का अभ्यास करता रहे, केशलोच करना, वस्त्र न रखना या ज़रूरत से कम रखना, सर्दी के दिनो मे शीत सहना, गर्मियो के दिनो मे धूप की आतापना लेना, वीरासनादि लगाना, पैदल विहार करना, पैरो मे जूता न डालना, सिर से नगे रहना, निर्दोष गोचरी करके आहार करना, रसीले पदार्थों एव विगयो का त्याग करना, जितेन्द्रिय बनना, मन को जीतना, मौन रखना इत्यादि सब तप के ही अनेक रूप है।

जैन आगमो मे तपस्या बारह प्रकार की बतलाई गई है। ज्ञानाचार के आठ रूप, दर्शनाचार के आठ रूप, चारित्राचार के आठ रूप और बारह प्रकार के तप—इन छत्तीस आचारो का यथाशक्य यथासम्भव निरन्तर पालन करना और इनके पालनार्थ अपनी शक्ति का प्रयोग करना वीर्याचार है, अत पाच प्रकार के आचारो का जीवन के अन्तिम श्वास तक पालन करना ही आचार है।

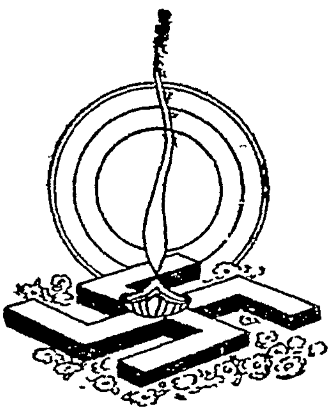

१५. विनयोपेत

विपूर्वक णीञ् प्रापणे धातु से विनय शब्द की निष्पत्ति होती है। विनय शब्द अनेकार्थक है। अभ्युत्थान, प्रणाम, भक्ति, प्रीति, शिष्टता, नम्रता, संयम, शिक्षा, अपनयन, लक्ष्यबिन्दु मे पहुचाने वाली साधना, इन सब का विनय शब्द से ग्रहण हो जाता है, परन्तु विनय का मुख्य अर्थ है आचार।

विनय ही धर्म का मूल है, इसी सदर्भ मे एक शास्त्रीय वार्ता प्रस्तुत करना उचित रहेगा।

एक बार सुदर्शन सेठ ने थावच्चा पुत्र से प्रश्न किया—'भते! आपकी दृष्टि मे धर्म का मूल क्या है?"

उत्तर मे थावच्चापुत्र ने कहा—'सुदर्शन! मेरा यह विश्वास है कि धर्म का मूल विनय है विनय के दो भेद है, अगार-विनय और अनगार-विनय। श्रावक की ग्यारह उपासक प्रतिमाओ और बारह व्रतो का समावेश अगार-विनय मे हो जाता है। अठारह पापो से निवृत्ति, पाच महाव्रत, छठा रात्रि भोजन-विरमण, दशविध श्रमण-धर्म, दशविध उत्तर-गुण-प्रत्याख्यान इस प्रकार के सभी साधन अनगार-विनय के ही अग हैं। गृहस्थ और साधु दोनो का प्रथम कर्तव्य विनय है। जबकि विनय को धम का मूल बताया गया है, तब जीवन की भूमि पर बिना मूल के धर्मवृक्ष का विकास असम्भव ही है।

विनय का स्वरूप और उसके भेद—

धर्म की ओर झुकाव का होना या अपने आप को धर्म-साधना एव गुरुजनो के लिये अर्पित कर देना विनय है, अथवा जिसके द्वारा सम्पूर्ण दु खो के कारणीभूत आठ कर्मों का उन्मूलन एव क्षय हो वह विनय है, अथवा अपने से बडे तथा गुरुजनो का देश और काल के अनुसार सत्कार सन्मान करना विनय है। इसके सात भेद हैं १ ज्ञान-विनय, २ दर्शन-विनय, ३ चारित्र-विनय, ४ मनो-विनय, ५ वचन-विनय, ६ काय-विनय और ७ लोकोपचार-विनय।

१. ज्ञान-विनय—

ज्ञान और ज्ञान के आधार भूत ज्ञानी पर श्रद्धा रखना, उनके प्रति भक्ति एव बहुमान दिखाना, उनके द्वारा बताए हुए तत्त्वो पर भली-भान्ति विचार एव मनन करना, निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करना और विधिपूर्वक ज्ञान को ग्रहण करना, ज्ञान-विनय है। इसके पाच भेद हैं, यथा—मतिज्ञान-विनय, श्रुतज्ञान-विनय, अवधिज्ञान-विनय, मन पर्यवज्ञान-विनय और केवल-ज्ञान-विनय।

२ दर्शन-विनय—

देव—अरिहन्त (वीतराग) गुरु-निर्ग्रन्थ, केवलि-भाषित धर्म और जिनवाणी इन सब पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है। जिनको भक्ति और श्रद्धा से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो चुकी है, जिनका ज्ञान स्वच्छ एव निर्मल हो गया है, उनके-प्रति विनय का होना दर्शन-विनय है। इसके मुख्यतया दो भेद है, सुश्रूषाविनय और अनाशातना-विनय। इनमे सुश्रूषा विनय के दस भेद हैं। जैसे कि—

(क) अभ्युत्थान—गुरु एव बडे सन्तो को सामने मे आते देखकर खडे हो जाना।

(ख) आसनाभिग्रह—"पधारिये, इस आसन को अलकृत कीजिए, इत्यादि विनीत वचन कहना।

(ग) आसन-प्रदान—बैठने के लिए उन्हे आसन देना।

(घ) सत्कार—उनका आदर सत्कार करना।

(ङ) सम्मान—उन्हें बहुत सन्मान देना।

(च) कीर्तिकर्म—उनकी स्तुति एवं गुण-गान करना, सविधि वंदना करना।

(छ) अजलि प्रग्रह—उनके सामने हाथ जोडना।

(ज) अनुगमनता—वापिस जाते समय कुछ दूर तक पहुचाने जाना।

(झ) पर्युपासनता—बैठे हो तो उनकी उपासना करना।

(ञ) प्रतिसंसाधनता—उनके वचनों को श्रद्धा से स्वीकार करना।

वैसे तो शुश्रूषा का अर्थ है सुनने की इच्छा। आज्ञा और प्रवचन सुनने की इच्छा को शुश्रूषा कहते है। शुश्रूषा के स्थान पर सुश्रूषा शब्द का प्रयोग भी होता है, जिसका अर्थ है गुरुजनों की सेवा-भक्ति। जिस विनय का सम्बन्ध सेवा-भाव से हो वह सुश्रूषा विनय है और जिसमे सुनने की इच्छा होती है वह शुश्रुषा करने वाला साधक अपने सेव्य से कभी भी दूर नही रहता। जहा तक उसे सेव्य के दर्शन होते रहे या जहा तक उनकी आज्ञा परिचायक शब्द सुविधा पूर्वक सुनने को मिल सके, वहा तक वह उनके

सान्निध्य का परित्याग नही करता। अभिप्राय यह कि जिस विनय के पीछे सेवा-भाव छिपा हो वही शुश्रूषा विनय है।

दर्शन विनय का दूसरा भेद अनाशातना-विनय है। विपरीत वर्तन, असद्व्यवहार, अपमान, तिरस्कार, अवहेलना, अश्रद्धा आशातना के ही पर्यायवाची शब्द हैं। आशातना न करना ही अनाशातना-विनय है। अरिहन्त भगवान, केवलि-भाषित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, सघ, सार्धमिक, क्रियावान्, मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी मन पर्याय-ज्ञानी और केवलज्ञानी इन पन्द्रह की आशातना न करना, इनकी भक्ति और वर्णवाद करना अनाशातना-विनय है। इन तीन कार्यो के करने से इसके पन्द्रह भेद हो जाते हैं। हाथ जोडना आदि विनय के बाह्य आचार को भक्ति कहते हैं और हृदय मे श्रद्धा और प्रीति रखना बहुमान है तथा वाणी से दूसरो के सामने गुणानुवाद करना प्रशसा करना वर्णवाद है।

३. चारित्र विनय

चारित्र का अर्थ है सयम, नियम, विरति या व्रत। चारित्र-प्राप्ति के लिए विनय करना या चारित्रवान की विनय करना चारित्र-विनय है। ज्ञान दर्शन-पूर्वक होता है और ज्ञान-पूर्वक चारित्र की आराधना होती है। ज्ञान-पूर्वक ग्रहण किया हुआ चारित्र ही सम्यक् चारित्र हुआ करता है। अज्ञान पूर्वक ग्रहण किया हुआ आचरण चारित्र नही, वह तो चारित्राभास है।

चारित्र-विनय के पाच भेद हैं—सामायिक-चारित्र-विनय, छेदोपस्थापनीय-चारित्र-विनय, परिहार-विशुद्धि-चारित्र-विनय, सूक्ष्म-सपराय-चारित्र-विनय और यथाख्यात-चारित्र-विनय।

पहले और दूसरे चारित्र की गति छठे से नौवें गुणस्थान तक है, तीसरे चारित्र की गति छठे और सातवें गुण-स्थान तक है, चौथे चारित्र की गति केवल दसवे मे ही है और पाचवा चारित्र ग्यारहवे, बारहवे तेरहवे तथा चौदहवे गुणस्थान मे पाया जाता है।

पहले और चौबीसवें तीर्थङ्कर के युग मे पाच चारित्रो का अस्तित्व पाया जाता है, महाविदेह मे और मध्य के बाईस तीर्थङ्करो के युग मे छेदोपस्थापनीय और परिहार-विशुद्धि-चारित्र का अस्तित्व नही होता। पाच चारित्रो में से किसी भी चारित्र का पालन करना चारित्र-विनय है।

४. मनोविनय—

मनोविनय शब्द के तीन अर्थ होते है—मन की विनय, मन से की जाने वाली विनय, विनय से ओत-प्रोत मन की प्रवृत्ति। इनमे से पहले अर्थ को छोडकर शेष सभी अर्थ यहां अभीष्ट हैं।

इसके दो भेद है प्रशस्त मनो-विनय और अप्रशस्त मनो-विनय। पाप-रहित मन की प्रवृत्ति, क्रोधादि दोषो से रहित मन प्रवृत्ति, कायिक आदि क्रियाओ मे आसक्ति-रहित मन की प्रवृत्ति, शोकादि रहित मन की प्रवृत्ति, आश्रव-रहित मन की प्रवृत्ति, अपने या दूसरे प्राणियो को दण्डित न करने की प्रवृत्ति और जीवों को भय न उपजाने की प्रवृत्ति मनो-विनय है। सवर, निर्जरा और पुण्यानुबधी पुण्य का बध प्रशस्त मनो विनय से ही होता है।

५ वचन-विनय—

भाषा के सभी दोषो से अपने को बचाना प्रशस्त वचन-विनय है।

६ काय-विनय—

काय से आचार्य आदि का विनय करना, काय की अशुभ प्रवृत्तियो को रोकना, सावधानी से गमना-गमन करना, सावधानी से खड़े होना, सावधानी से बैठना, सावधानी से लेटना, सावधानी से देहली आदि को लाघना और सभी इन्द्रिय और योगो को यतना से वर्ताना ये सब प्रशस्त काय-विनय के रूप है। अशुभ सकल्पो से मन को, अशुभ वाणी से वचन को और अशुभ प्रवृत्ति से काय को लौटाना, बचाना और शुभ प्रवृत्तियो मे लगाना सच्ची एव प्रशस्त विनय कहलाती है।

विनय, भक्ति, प्रेम एव प्रीतिवश किसी देवी-देवता की आराधना के लिये या असयमियो के प्रेमवश होकर द्रव्य-पूजा करना धर्म के नाम पर छ काय की हिसा करना, पशु-बलि देना, चोरी करना, भक्ति वश मन, वचन और काय की असयमपूर्वक प्रवृत्ति करना, क्रमश अप्रशस्त मन-विनय, वचन-विनय और काय-विनय है। यह पाप-बध का भी कारण हो सकती हैं और पापानुबन्धी पुण्य का कारण भी हो सकती है, अत यह सवर-निर्जरा और शुभानुबन्धी शुभ का बन्ध नही होने देती, इसीलिये ये तीनो अप्रशस्त विनय साधक के लिये सर्वथा त्याज्य हैं।

७ लोकोपचार-विनय

जो बाह्य क्रियाए केवल दूसरो की दु ख निवृत्ति के लिए या सुख पहुचाने के उद्देश्य से की जाती हैं, वे लोकोपचार विनय के अन्तर्गत आती हैं। लोकप्रिय बनने के जो साधन है उनको उपयोग मे लाते समय जो कुछ करना होता है वह लोकोपचार विनय है। मुनिवरो ने इसके सात भेद प्रस्तुत किये है—

(क) अब्भासवत्तिय—गुणी जनो के पास रहना, सुसगति मे रहना या शास्त्र-अभ्यास मे दत्तचित्त रहना।

(ख) परच्छन्दाणुवत्तियं—वड़ो की इच्छानुसार कार्य करना।

(ग) कज्जहेउ—अपने ज्ञानादि कार्यों के लिए उन्हे आहारादि ला कर देना एव साता पहुंचाना।

(घ) कयपडिकिरिया—अपने ऊपर किए हुए उपकारो का वदला चुकाना अथवा आहारादि के द्वारा गुरु की सेवा करने से गुरु प्रसन्न होगे और उसके वदले मे वे मुझे ज्ञान सिखाएगे ऐसा सोचकर उनकी विनय करना।

(ङ) अत्तगवेसणया—ग्लान, रोगी, असमर्थ एव दीन-हीन की सार, सम्भाल करना।

(च) देसकालण्णया—देश और काल के अनुसार कार्य करना।

(छ) सवत्थेसु-अपडिलोमया—छोटे-वडे सभी कार्यो मे वड़ो की आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति करना, इन्कार मे नही, इकरार मे उत्तर देना, उनकी इच्छा के प्रतिकूल कभी कोई कार्य न करना लोकोपचार विनय है। इसकी आराधना साधु एवं श्रावक सभी को करनी चाहिए।[1]

ज्ञान विनय से लेकर लोकोपचार विनय तक विनय के इन सात भेदो में सभी धर्मानुष्ठानो का अन्तर्भाव हो जाता है। धर्म का सर्वस्व ही विनय है। इसीलिये कहा जाता है "विणयमूलो धम्मो"—विनयरूप मूल पर ही धर्म रूप वृक्ष विकसित होता है।

विनयवाद भी भारतीय सम्प्रदायविशेष का एक सिद्धान्त है।

---

१ भगवतीसूत्र, २५वा शतक। स्थानाङ्ग सूत्र ७वा स्थान, औपपातिक सूत्र।

उसकी मान्यता है कि देव, दानव, राजा-रक, हाथी, घोडा, कौआ, गरुड, गाय शृगाल कुत्ता, और तापस आदि को नमस्कार करने से क्लेशो का नाश होता है, क्योकि विश्व के सभी प्राणी ब्रह्म के ही रूप है, अत इनकी विनयभक्ति करने से मोक्ष-प्राप्ति भी हो सकती है। जैन दर्शन इस विनयवाद को बिल्कुल नही स्वीकार करता, क्योकि असयमियो की विनय धर्म का अग नही बन सकती।

विनय-सम्पन्न व्यक्ति को विनीत और जो विनीतो मे भी श्रेष्ठ है उसे सुविनीत कहते है। सुविनीत मे ही पन्द्रह गुण होते है। सुविनीत मे विनय के सभी गुण पाए जाते हैं। सुविनीत का जीवन-स्तर लोगो के जीवन-स्तर से बहुत ऊचा होता है। यदि उसे छद्मस्थो मे सर्वगुणसम्पन्न कहा जाए तो अनुचित न होगा। वे पन्द्रह गुण निम्नलिखित है।

१ नीयावत्ती—जो सब के साथ नम्र व्यवहार करता है वह सुविनीत है। जो शिष्य न तो गुरु से ऊची शय्या पर बैठता है, न गुरु के आगे चलता है, न समकक्ष चलता है,पीछे भी न अति दूर न अति निकट चलता है, नीचे बैठता है, मस्तक झुका कर प्रणाम करता है, बडी नम्रता से सशय-निवृत्ति के हेतु गुरु से पूछता है, यदि कभी असावधानी से गुरु के शरीर या उपकरणो के साथ सघट्टा लग भी जाए तो तत्काल क्षमा-याचना करता है और अपनी भूल स्वीकार करता है, भविष्य मे ऐसी भूल कभी नही होगी यह विश्वास दिलाता है, वही शिष्य सुविनीत है।

२ अचवले—सुविनीत चपल नही होता। गति, स्थान, भाषा और भाव की अपेक्षा से चपल व्यक्ति चार प्रकार के होते है—

जो दौडता हुआ चलता है वह गति-चपल है।

जो बैठा-बैठा हाथ पैर मारता रहता है वह स्थान-चपल है।

जो असत् बोलता है, कडा या रूखा बोलता है, बिना सोचे-विचारे बोलता है, अवसर निकल जाने के बाद यह कार्य अमुक देश मे और अमुक काल मे यदि किया जाता तो अच्छा होता ऐसा कहने वाला भाषा-चपल कहलाता है।

जिसके भाव दूध के उफान की तरह कभी बढते हैं और कभी उतर जाते हैं, प्रारम्भ किए हुए सूत्र और अर्थ को बीच मे ही छोडकर दूसरे सूत्र और अर्थ का अध्ययन करने लगता है वह भाव-चपल है। साधक को चपल नही स्थित-प्रज्ञ होना चाहिए।

३. अमाई—सुविनीत मायावी नही होता। वह गुरु से या अपने साथियो से कभी भी छल-कपट नही करता, वह सदैव सब से निष्कपट व्यवहार करता है। निष्कपट व्यक्ति सब को अच्छा लगता है। जो दूसरो के द्वारा किए जाने वाले कपट को समझता है, किन्तु स्वय कपट नही करता वही अमायी कहलाता है, अनजान या मदमति को अमायी नही कहा जा सकता।

४. अकुऊहले—खेल, तमाशा, इन्द्रजाल, नट-नाटक आदि इन्द्रियो के विषय और चमत्कारिणी विद्याए पाप-सवर्धनी होती है। सुविनीत मे कभी कुतूहल अवगुण नही होता, वह उन्हे देखने के लिए कभी उत्सुक नही होता। अमर्यादित उत्सुकता साधक को धर्म मे स्थिर नही रहने देती।

५ अप्प चाहिक्खिवई—सुविनीत किसी का तिरस्कार नही करता। अल्प शब्द थोडे और अभाव का वाचक है। अयोग्य को धर्म मे प्रेरित करने की दृष्टि से थोडा सा उसका तिरस्कार भी हो

जाता है, किन्तु किसी का भी तिरस्कार करना श्रेयस्कर नही, होता।

६ पवध च न कुव्वइ—सुविनीत क्रोध को मन मे स्थिर नही रहने देता, अधिक समय तक क्रोध करते रहना अविनीतता है। जैसे पानी मे खीची हुई लकीर अधिक देर तक नही रहती वैसे ही क्रोध आये और तत्काल शान्त हो जाए यही विनीतता के पथिक के लिए प्रशस्त मार्ग है।

७ मेतिज्जमाणो भयई—सुविनीत मित्रता रखने वाले के प्रति कृतज्ञ रहता है। कृतज्ञता नही रखने से साधक की उन्नति एव गुणवृद्धि क्षण-क्षण मे हीन होती जाती है।

८ सुयं लद्धुं न मज्जई – सुविनीत श्रुतज्ञान प्राप्त करने पर भी मद नही करता। धर्म-साधना मे माया करना और विद्वत्ता प्राप्त करके अहकार करना अजीर्ण है। श्रुतज्ञान अहकार की पुष्टि के लिए नही, नम्रता के विकास के लिये होता है।

९ न य पाव परिक्खेवी जो भूल या स्खलना होने पर किसी का अपमान नही करता, अथवा किसी पर झूठा कलक नही चढाता वह सुविनीत है।

१० न य मित्तेसु कुप्पइ—सुविनीत कभी भी मित्रो पर क्रोध नही करता। हितशिक्षक, ज्ञानदाता, गुरु, आचार्य आदि सब मित्र हैं, वह उनके प्रति कभी भी रोप प्रकट नही करता।

११. अप्पियस्सा वि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई—सुविनीत एकान्त मे भी अप्रिय मित्र की प्रशसा ही करता है, निन्दा नही करता। बुराई करने वाले व्यक्ति द्वारा पहले किए गए किसी उपकार का स्मरण करके उसके परोक्ष मे भी उसकी प्रशसा ही करता है।

१२. कलह-डमर वज्जिए—सुविनीत शिष्य किसी के साथ न वचन से कलह एव झगडा करता है और न हाथापाई करता है।

१३ वुद्धे अभिजाइए—सुविनीत शिष्य तत्त्व को जानने वाला एव लिए हुए सयम-भार का निर्वाह करने वाला होता है। अभिजाति का अर्थ है कुलीनता। कुलीन वही है जो धारण की हुई मर्यादाओ का जीवन भर पालन करता है।

१४. हिरिम—सुविनीत शिष्य लज्जावान् होता है। लज्जा एक तरह का मानसिक सकोच है, जो अनुचित कार्य करने मे लजाता हो वह लज्जावान् कहलाता है। लज्जा भी सयम का एक मुख्य अग है। वह भी कभी-कभी मनुष्य का उद्धार कर देता है, अत साधक का लज्जावान् होना भी आवश्यक है।

१५ पडिसलीणे —जो इन्द्रियो और मन का सगोपन करने वाला होता है। किसी भी सभ्य व्यक्ति को निष्प्रयोजन दिन भर इधर-उधर नही फिरते रहना चाहिए। प्रतिसलीन शब्द के द्वारा इसी आचरण की शिक्षा दी गई है। सुविनीत व्यक्ति ही गुणो से समृद्ध होता है। जो इन पद्रह गुणो से सपन्न है वही बुद्धिमान व्यक्ति सुविनीत कहलाता है।

जिसमे विनय और सुविनीत के सभी लक्षण एव गुण पाए जाते है वह निश्चय ही सम्यग्दृष्टि एव रत्नत्रय का आराधक है, वही श्रुतज्ञान का बहुमुखी विकास करता हुआ बहुश्रुत की कोटि मे पहुच जाता है।

तीर्थङ्कर महावीर ने बहुश्रुत को सर्वोत्तम सोलह उपमाओ से उपमित किया है। बहुश्रुत मुनि अपना और दूसरो का कल्याण करता हुआ यथाशीघ्र कर्मो के बधन से मुक्त हो जाता है। अत

विनय, बहुश्रुत, सयम एव विवेक का परस्पर घनिष्ठ सबध है। विनय से ही मानव गुणो का भण्डार बनता है "**विनयाद् याति पात्रताम्**" अभिमान की कमी से विनय की पात्रता बढती है। अभिमान जीवन मे कठोरता पैदा करता है, उसके निकल जाने से आत्मा मे उस विनय का विकास होता है जिससे साधक सुगति के पथ पर प्रगति करता हुआ महान् योगी बन कर आत्मोद्धार कर सकता है। ●

१६ धृतिमति

धृति शब्द अनेक अर्थो की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है जैसे कि धारण करने की या पकडने की क्रिया या उतावलापन न करने का भाव, ज्ञात विषय का अविस्मरण। प्रसगानुसार इस शब्द के ये सब अर्थ ग्रहण किये जाते है। धैर्य मन मे, शरीर मे तथा बुद्धि मे भी होता है। बुद्धि मे धैर्य है तो शरीर मे भी है, यदि शरीर मे है तो मन मे भी धैर्य का होना निश्चित है। इस प्रसग मे धृति शब्द का अर्थ 'ज्ञात विषय का अविस्मरण' ही इष्ट है। मति का अपर नाम धृतिमति भी है, क्योकि धृति का सम्बन्ध मति के साथ जुडा हुआ है। उपयोग अर्थात् चित्त वृत्तियो का एक विषय पर निरन्तर स्थिर रहना ही धृतिमति है। इसका सीधा सम्बन्ध अनुप्रेक्षा से है। गहन विचार, स्वाध्याय या अनुसन्धान धृति-मति के बिना असम्भव ही है।

जिस व्यक्ति की बुद्धि धैर्य-प्रधान होती है उसके जीवन में दीनता की अभिव्यक्ति कभी नही हो सकती, क्योकि धैर्य का निवास शरीर, मन और बुद्धि मे ही होता है। जिसकी बुद्धि मे धैर्य होता है वह मिथ्यादृष्टियो एव एकान्तवादियो की भ्रान्त धारणाओ के जाल-जजाल मे कभी नहीं फस सकता, वह कुमार्गों की पगडडियो मे कभी नही भटकता। जैसे राजा की ओर से बना हुआ

राजमार्ग सबके लिए हित-कर एव श्रेयस्कर होता है, वैसे ही तीर्थङ्कर भगवान का बताया हुआ साधना-मार्ग राजमार्ग है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीनो का समन्वित पथ ही मोक्षमार्ग है। इस राज-मार्ग को छोडकर जो भूलकर भी अन्य मार्ग की चाहना नही करता, वही धृतिमति का उपयोग कर सकता है, धृतिमति की स्थिति को ही दूसरे शब्दो मे स्थित-प्रज्ञता कहा जाता है। स्थित-प्रज्ञ साधक आचार विचार मे सयम-तप मे सवर-निर्जरा मे सदैव अडिग रहता है। भयकर उपसर्गो के उपस्थित होने पर भी ध्यान और समाधि मे स्थिर रहता है। उसकी धीरता के सामने दिव्य शक्तिया भी पराजित होकर नत मस्तक हो जाती हैं।

बुद्धि मे धैर्य का होना यह प्रमाणित करता है कि उसके विचारो का स्रोत सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है मिथ्यात्व की मलिनता से रहित है। मन मे धैर्य का होना यह सिद्ध करता है कि साधक की श्रद्धा एव विश्वास दृढ है। शरीर मे रहा हुआ धैर्य साधक को किसी प्रकार के भय और प्रलोभनो द्वारा मर्यादा से विचलित नही होने देता। यदि तीनो मे धैर्य है तो वह साधक उच्चकोटि का महात्मा है।

हठ और धैर्य मे अन्तर

अपनी अनुचित एव गलत बात पर अडे रहने की प्रवृत्ति को हठ कहा जाता है। सत्यग्राही होना या सत्य पर आग्रह करना धैर्य है। जिस कार्य या विचार से अपना और दूसरो का भला हो, उस कार्य या विचार पर दृढ रहना धैर्य है, जिससे सबका हित एव सुख नष्ट हो रहा हो ऐसे विचार या कार्य पर मोह-वश अटल रहना हठ है। धैर्य होना चाहिए, हठ नही। कहा भी है—

"धैर्य धर्म मित्र अरु नारी, आपत-काल परखिए चारी।" ●

१७. संवेग

संवेग शब्द जैन आगमों का पारिभाषिक शब्द है। प्रत्येक शब्द मे कोई न कोई अपनी विशेषता होती है और अपना विशेष अर्थबोध भी। स पूर्वक 'ओविजी भयचलनयो' धातु से सवेग शब्द की निष्पति होती है। लोक-व्यवहार मे मन आदि कारणो से होनेवाली घबराहट तथा शीघ्र गति को सवेग कहते है, किन्तु जैन आगमो मे संवेग शब्द का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह धर्म-साधन का एक मुख्य अंग है। इसके बिना साधक की साधना अपूर्ण ही रहती है।

सम्यग्दृष्टि के पांच लक्षण हैं, जिन लक्षणो से सम्यग्दृष्टि की पहचान की जाती है उनमे दूसरा लक्षण सवेग है। उत्तराध्ययन सूत्र के उनत्तीसवे अध्ययन मे तिहत्तर प्रश्न है और तिहत्तर ही उत्तर हैं। उनमे सब से पहला प्रश्न सवेग सम्बन्धी है और वहां सवेग का जो फल बताया गया है, उसे जान लेने पर सवेग का मूल्याकन ज्ञानियो को दृष्टि मे बढ जाता है।

लक्ष्य-प्राप्ति मे बाधक तत्त्वो से भय और लक्ष्य बिन्दु की ओर तीव्र एव सतुलित वेग को ही सवेग कहा जाता है। कर्मों के बधनो से मुक्त होने की अभिलाषा ही सवेग है। जो मनोभाव सर्वोत्तम शक्तिशाली आत्मा को वेग के साथ साधना के लक्ष्य की ओर अभिमुख करता है वह सवेग है। जब मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न होती है तब धर्म मे रुचि उत्पन्न हो जाती है। जब धर्म मे रुचि उत्पन्न हो जाती है तब मोक्ष की अभिलाषा तीव्रतम हो उठती है। इस प्रकार सवेग और धर्म-श्रद्धा मे परस्पर कार्य-कारण

भाव की अभिव्यक्ति होती है। जब सवेग मोक्ष की ओर तीव्रतम हो जाता है तब अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ सभी क्षीण हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन सदा-सदा के लिए विशुद्ध हो जाता है। जिसका सम्यग्दर्शन निरावरण एव विशुद्ध हो जाता है, वह पाप-कर्म नही करता, परिणाम स्वरूप वह उसी भव मे या तीसरे भव मे अवश्य ही मुक्त हो जाता है।

सवेग से साधक परमात्म-पद की ओर तीव्रतम गति से दौड लगाता है, बे-रोकटोक आगे बढता रहता है। वह सवेग केवलि-भाषित धर्म के प्रति श्रद्धा की विशुद्धि करता है। गुणो की परम्परा सवेग से प्रारम्भ होती है। परम एव चरम लक्ष्य मे उसकी पूर्णता हो जाती है।

सवेग का सहचारी गुण निर्वेद है, निर्वेद का अर्थ है वैराग्य। वैराग्य तीन प्रकार का होता है—ससार-वैराग्य, शरीर-वैराग्य और भोग-वैराग्य। जब मोक्ष की अभिलाषा होती है तब निश्चय ही वैराग्य का होना भी अवश्यभावी होता है। वैराग्य के कारण जब ससार, शरीर एवं भोगो से जीव विमुख हो जाता है तब दूसरी ओर सवेग बढ जाता है। अत. सवेग से निर्वेद का विकास होता है और निर्वेद से सवेग का। जिसने केवल एक मोक्ष को ही लक्ष्य बनाया हुआ है, वह इधर-उधर के मिथ्या-मार्गों में नही भटकता।

ससार के अनेक मार्ग हैं, जबकि मोक्ष मार्ग एक है। बध और बंध-हेतुओ से पूर्णतया निवृत्ति ही मोक्ष है। सवेग मोक्ष मार्ग का उद्घाटन करता है, अत. चित्तवृत्तियो को निरुद्ध कर मोक्ष-पथ पर बढने के लिये साधक सवेग का सहारा लेकर लक्ष्य-प्राप्ति मे सफल होता है। ●

१८. प्रणिधि

जिन-धर्म ने विद्या और धर्म-साधना मे जाति, वर्ण, क्षेत्र और काल का कोई बंधन स्वीकार नही किया। अहिसा, सयम और तप इनकी सामूहिक आराधना को ही जिन-धर्म कहा जाता है। जिस मानव का हृदय विशाल है, निरीक्षण सूक्ष्म है, निश्चय दृढ है, मानव के उत्थान मे जिसका विश्वास है तथा मानव-समाज को ऊचा उठाने की तीव्र भावना है, वही जैन है। प्रणिधि भी जैन सस्कृति का पारिभाषिक शब्द है चित्त की एकाग्रता, धर्मध्यान, समाधि, शुद्धभक्ति, समर्पण किसी कर्म के फल का त्याग, इन सब का अन्तर्भाव प्रणिधि शब्द मे हो जाता है। सात्विक मन, सुबुद्धि, विवेक और श्रद्धा ये सब मिलकर अन्तर्ज्योति के रूप है। अन्तर्ज्योति की विद्यमानता मे ही प्रणिधि की साधना हो सकती है।

प्रणिधि के दो रूप है—बहिरग और अन्तरग। बहिरग प्रणिधि आनन्द को और अन्तरग प्रणिधि शान्ति को जन्म देती है। आनन्द बहा ले जाता है और शान्ति किनारे पर लगा देती है। आनन्द मे रस व मद है और शान्ति मे समाधान व आध्यात्मिक सुख है। आनन्द चचल है और शान्ति अचल है। आनन्द इन्द्रियो को उत्तेजित करता है और शान्ति उन्हे अपने उदर मे समा लेती है। आनन्द आत्मा को असयम की ओर भी ले जासकता है, परन्तु

शान्ति सयम की ओर ही ले जाती है। असयम से आत्मा पर इन्द्रियो की विजय होती है, जबकि सयम से आत्मा की इन्द्रियो पर पकड हो जाती है। अत. प्रणिधि का जो अन्तरग रूप है वही साधक के लिए ग्राह्य है।

हर्ष और शोक से मुक्त अवस्था मे ही प्रणिधि का भाव जीवन मे उतरता है, क्योकि हर्ष और शोक ये एक ही सिक्के के दो पहलू है। जिसमे हम हानि या अभाव अनुभव करते हैं वह है शोक, जिसमे लाभ या प्राप्ति का अनुभव करते है वह है हर्ष, दोनो मे सम रहना हो शान्ति, समता एव चित्त की एकाग्रता है। प्रणिधि-साधना का साधक सदैव विपत्ति मे धैर्य व दृढता की परीक्षा और सपत्ति मे क्षमा व उदारता की परीक्षा देता ही रहता है। उसकी प्रत्येक घड़ी परीक्षा की उत्तीर्णता के साथ बीतती है। उसकी बुद्धि हस के समान गुण-ग्राहिणी होती है, उसका हृदय स्फटिक रत्न के समान स्वच्छ, वाणी मे माधुर्य एव प्रिय सत्य, दृष्टि मे मध्यस्थता, तन मे सहनशीलता हुआ करती है।

प्रणिधि बहुत बडी निधि को भी कहते हैं। जिस साधना की आराधना करने पर गुणो की अक्षीण महानिधि प्राप्त हो जाए वह भी प्रणिधि है। चेतना के स्वच्छ एव निर्मल प्रवाह को भी प्रणिधि कहा जाता है। निष्कपट आचार-विचार की साधना भी इसी नाम से पुकारी जातो है। जो स्वकर्त्तव्य के पालन मे अप्रमत्त है और फल के प्रति निष्काम है, वही इसकी आराधना कर सकता है।

१६. सुविधि

सुविधि यह शब्द अनेकार्थक है। चौबीस तीर्थंकरों मे नौवे तीर्थंकर का नाम सुविधि था। सुन्दर अनुष्ठान एव पावन क्रिया-कलाप अर्थात् धर्मानुष्ठान का अपर नाम भी सुविधि है। जिस साधना की आराधना बहुत अच्छी विधि से की जाए उसे भी सुविधि कहते हैं।

किसी शुभ कार्य को करने की महत्ता इसी मे है कि वह वैज्ञानिक एव कलापूर्ण विधि से किया हुआ होना चाहिए। विश्व मे सब से मुश्किल काम अपना सुधार है और सब से आसान कार्य दूसरो की नुक्ताचीनी है। जो शुभ कार्य के लिए प्रशसा के भूखे रहते है उनके हृदय मे पुण्य-कार्य के प्रति वास्तविक प्रीति नही होती, क्योकि उनके हृदय मे झूठी प्रशसा का आकर्षण समाया रहता है।

जो अपनी छलकती हुई आखो से, पवित्र विचारो से मधुर वाणी से और शुभ कार्यो से आनन्द बरसाता है, हमेशा उसी को लोग प्रसन्न रखते हैं। सबसे प्रिय है करना और न कहना तथा सबसे अप्रिय है—कहना और न करना।

जब मानव के अन्त करण मे धर्म के प्रति श्रद्धा और प्रेम का उद्रेक बढ जाता है तब उससे जो भी कार्य होता है वह भलाई का ही होता है, क्योकि धर्म का प्रेम परिश्रम को हल्का

और दुख को मधुर बना देता है। भलो से प्रेम और बुरो को क्षमा करना ये दोनो तत्त्व चरित्र-निर्माण मे परम सहायक हैं।

सुपात्रदान, परोपकार, सेवा, सहयोग, मन-संयम, वचन-संयम और काय सयम इत्यादि सभी शुभ क्रियाए पावन अनुष्ठान हैं। विवेक-पूर्वक कषायो से निवृत्त होकर शुभ अनुष्ठानो मे प्रवृत्ति और सभी अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति ही सुविधि है। जैसे अग्नि, पानी और विद्युत् इन मे किसी को सुखी या दुखी करने की इच्छा नही है, तो भी उनमे यह शक्ति है कि सुविधि से काम लेनेवाले को सुखी और अविधि से काम लेने वाले को दुखी होना ही पडता है। वैसे ही भगवान वीतरागी है, उनकी आज्ञा का सेवन सुविधि से किया जाए तो सुख और अविधि से सेवन करने वाले को दुख प्राप्त होता है। यह भगवान का या धर्म का नही, अपितु व्यक्ति के अपने ही गुण-दोष का परिणाम है। काम, क्रोध, मान, लोभ, मोह और अज्ञान आदि विकार आत्मा के भीतरी शत्रु हैं, जिस उपाय से इन शत्रुओ को जीता जा सकता है, उस उपाय को ही जिन-धर्म कहते है। उस उपाय को ही दूसरे शब्दो मे सुविधि कहा जाता है। उस उपाय को जिस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है वही सम्यग्ज्ञान है। विशाल आपत्तियो को, भयकर सकटो को, सभी तरह के भयो को, प्रतिकूल वधो को तथा पराधीनता जैसी अपमानता को केवल ज्ञानाग्नि ही भस्म कर कर सकती है।

सुविधि पूर्वक भगवान की भक्ति करने से जैसे कल्याण होता है वैसे ही पुण्य अनुष्ठान करने से भी आत्मा का कल्याण होता है। यह भी कर्मों से निर्लिप्त रहने की एक रीति है। सुविधि भी अन्तर्बल है। इसी मे अनासक्ति भाव का अन्तर्भाव हो जाता

है। भाव एक स्फुरणा है, विचार एक योजना है। भाव मे प्रेरणा, गुण मे आकर्षण और बल मे दब-दबा होता है। बल मे राग-द्वेष गुण मे स्नेह और भाव मे आनन्द एवं शान्ति है।

भाव जब साकार एव क्रियात्मक बन जाता है, तब वह गुण कहलाता है। गुण जब दूसरो को प्रभावित करता है, तब वह बल कहलाता है। भाव हृदय को स्पर्श करता है, गुण बुद्धि को प्रमुदित करता है। बल शरीर को वशीभूत करता है, भाव अपने आप बढता है। गुण साधना से प्राप्त होता है और बल आयोजन एव अभ्यास से प्राप्त होता है। गुण तप से, कषायो की मदता से, शास्त्रो के स्वाध्याय से, अनेकान्तवाद के आश्रयण से और सतत साधना से विकसित होता है। सुविधि भी अपने आप मे महत्त्व पूर्ण गुण है। जब वह ससीम से असीम बन जाता है, तब वह आत्मा को निश्चय ही परमात्मा बना देता है। परमात्म पद को प्राप्त करना ही आत्मा का लक्ष्य-बिन्दु है।

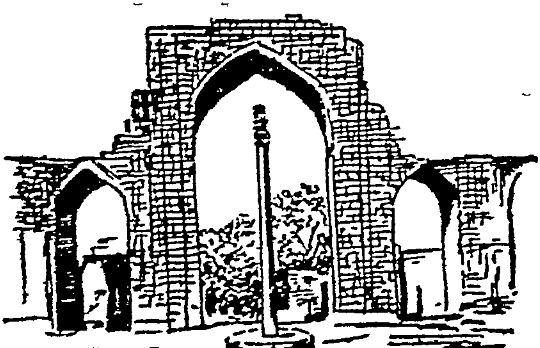

२०. संवर

शब्दो का प्रवाह पक्ष और विपक्ष को लेकर द्वन्द्वात्मक रूप धारण करके चलता है, जैसे जीव और अजीव, पुण्य और पाप, आश्रव और सवर , वन्ध और मोक्ष, आत्मा और परमात्मा, ज्ञान और अज्ञान इत्यादि । आश्रव और सवर का भी अपना द्वन्द्वात्मक रूप है । कर्म-वन्ध के हेतुओ मे प्रवृत्ति करना आश्रव है और आश्रवो का निरोध सवर है ।

सवर पाच प्रकार का होता है । सम्यग्दर्शन-सवर, व्रत-सवर, अप्रमाद-सवर, अकपाय-सवर और प्रशस्त-योग या योग-निरोध सवर । संवर के इन पाच भेदो मे सवर के सभी भेदो का समावेश हो जाता है ।

सवर को समझने से पहले आश्रव को समझना जरूरी है, क्योकि जव तक आश्रव को न समझा जाएगा, तव तक निरोध किसका किया जाएगा ? जैसे अमृत को समझने से पहले विष के स्वरूप को समझना अनिवार्य हो जाता है, तत्पश्चात् ही अमृत के महत्व को यथातथ्य ज्ञान का विपय वनाया जा सकता है । आश्रवो का विवेचन निम्नलिखित है—

१ मिथ्यात्व—तत्व से विपरीत श्रद्धा ही मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है । जैसे जीव को अजीव समझना, वकरी, गाय,

मुर्गी अण्डा आदि एव जलचर, स्थलचर पक्षी आदि जीवो मे आत्मा नही है, केवल प्राण ही हैं, इसलिए इनके खाने मे कोई दोप एव पाप नही, ऐसा समझना मिथ्यात्व है। अजीव को जीव समझना, जैसे शरीर, इन्द्रिय और मन ये अपने अस्तित्व की दृष्टि से जड है, इनको ही आत्मा समझना मिथ्यात्व है। धर्म को अधर्म समझना, जैसे सत्य अहिसा त्याग तप, शान्ति ब्रह्मचर्य क्षमा, आर्जव आदि धर्मो को अधर्म मानना मिथ्यात्व है। अधर्म को धर्म मानना हिसा, झूठ, चोरी, आदि पापो मे आसक्त रहना, मद्य-पान करना जुआ खेलना, मांस खाना भोगविलास को धर्म समझना मिथ्यात्व है। जिनको कनक और कामिनी अपनी ओर खीच नही सकते, सासारिक लोगो की प्रशसाए प्रसन्न नही कर सकती, जो जर-जोरू और जमीन के त्यागी हैं, ऐसे साधुओ को भी साधु न समझना मिथ्यात्व है। जो कनक-कामिनी के दास बने हुए है, जिनको सासारिक लोगो से प्रशसा एव प्रतिष्ठा पाने की दिन रात इच्छा बनी रहती है, ऐसे साधु वेषधारियो को साधु समझना मिथ्यात्व है। ससार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना-मिथ्यात्व है। मोक्षमार्ग को ससार का मार्ग समझना मिथ्यात्व है। कर्मरहित को कर्मसहित समझना, जैसे परमात्मा राग द्वेष आदि विकारो से रहित है, फिर भी यह समझना कि भगवान अपने भक्तो की रक्षा के लिए दैत्यो का नाश करते हैं, अमुक स्त्री की तपस्या से प्रसन्न होकर उसके पति बनते हैं, यह मिथ्यात्व है। कर्म-सहित को कर्म-रहित मानना, भक्तो की रक्षा और शत्रुओ का नाश, यह राग-द्वेप के बिना हो नही सकता और रागद्वेप कर्म सम्बन्ध के बिना हो नही सकते, फिर भी उन्हे कर्म-रहित मानना, यह समझना कि वे सब कुछ करते हुए भी अलिप्त है। इस प्रकार

की धारणाए मिथ्यात्व के अन्तर्गत हो जाती है।

अथवा मिथ्यात्व पाच प्रकार का होता है, जैसे कि तत्त्व की परीक्षा किए बिना ही किसी एक सिद्धान्त का पक्ष करके पक्ष का खण्डन करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। किसी तत्व की गुणदोष की परीक्षा किए बिना ही सर्व पक्षो को बराबर समझना, सत्य और असत्य को बराबर समझना, अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। अपने पक्ष को असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करने के लिए आग्रह करना- आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। वीतराग देव, जिनवाणी, गुरु निर्ग्रन्थ और केवलि-भाषित धर्म इनमे तथा नव तत्त्वो के प्रति सदेहशील बने रहना साशयिक मिथ्यात्व है। मोह की प्रगाढतम अवस्था मे रहना, सुविचार या विशेषज्ञान के अभाव मे रहना अनाभोग मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व अभव्यो की अपेक्षा अनादि अनन्त है, भव्यो की अपेक्षा अनादि सान्त है और प्रतिपाती की अपेक्षा सादि सान्त है। मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन सबसे बडा आश्रव है।

सम्यग्दर्शन-सवर वह कहलाता है, जिसके उत्पन्न होते ही मिथ्यादर्शन रूप आश्रव स्वयं रुक जए।

सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक।

मिथ्यात्व और उसकी सहचारिणी सभी प्रकृतियो का जब पूर्णतया उपशमन हो जाता है, तब उनमे से किसी का विपाकोदय तो क्या, प्रदेशोदय भी नही होता। आत्मा की वह शुद्ध अवस्था ही औपशमिक सम्यग्दर्शन है। जब मिथ्यात्व और उसकी सहचारिणी प्रकृतियो मे से किन्ही का उपशम एव

किन्ही का क्षय कर देने पर सम्यक्त्व मोहनीय का वेदन किया जा रहा हो तब आत्मा की उस शुद्ध अवस्था को ही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहा जाता है। जब सम्यग्दर्शन विरोधिनी सभी प्रकृतियो को क्षय कर दिया जाता है, तब आत्मा मे जो शुद्धतर अवस्था होती है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है। औपशमिक की स्थिति अतर्मुहूर्त है। क्षायोपशमिक की ६६ सागरोपम से कुछ अधिक और क्षायिक की स्थिति सादि अनन्त है। जब आत्मा सम्यग्दर्शन के प्रकाश मे पहुच जाता है,तब उस पर मिथ्यात्वरूप अन्धकार का आक्रमण नही होता। जैसे प्रकाश-पुज अधकार का निरोध करता है वैसे ही सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व का निषेध या निरोध स्वत: हो जाता है, अत सम्यग्दर्शन भी सवर है।

२. अव्रत—अणुव्रत और महाव्रत के अभाव का नाम अव्रत है। असयत एव अमर्यादित जीवन में ही इस आश्रव का अस्तित्व पाया जाता है। पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक सभी जीव अव्रती है और अव्रती का जीवन बहुधा मर्यादाहीन होता है। उसके लिये हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह आदि पापो के सभी द्वार खुले रहते हैं। उसका मुख्य उद्देश्य ऐन्द्रियिक सुख है, उसकी उत्तरोत्तर प्राप्ति के लिए वह सब तरह के पापाचरण या अपराध करने के लिए भी उद्यत रहता है। यदि राज-भय से समाज-भय से या किसी असमर्थता के कारण कोई पापाचरण नही करता तो वह व्रती या सयमी नही है। जो किसी भी व्रत का पालन नही करते उन्हे अविरत भी कहते हैं। अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं जैसे कि—

१. जो व्रतो के स्वरूप को नही जानते उनकी निष्ठा त्याग मे नही हो सकती, अत वे किसी के कहने से व्रतो को अंगीकार भी

नही करते और न उनका पालन ही करते है। इस प्रकार के लोग बिल्कुल साधारण होते हैं।

२ उन्हे भी अव्रती कहा जाता है जो व्रतो को न तो जानते है और न अगीकार ही करते हैं, किन्तु अज्ञानता से पालते है, ऐसे तापस एव वालतप करने वाले मिथ्यादृष्टि माने जाते है।

३ वे भी अविरतो की कोटि मे माने जाते है जो व्रतो के स्वरूप को जानते भी नही, और स्वीकार करके पालते भी नही। ऐसे लोग पार्श्वस्थ-साधु वेपधारी होते हैं, वे लौकिक जीवन को सुखमय वनाने के लिए साधुवेष मे रहते है।

४ उन्हे भी पूर्णतया विरत नही कहा जा सकता है—जिन्हें व्रतो का ज्ञान नही, किन्तु उन्हे धारण करते हैं और वरावर पालन भी करते हैं, ऐसे व्यक्ति अगीतार्थ मुनि कहे जाते हैं। जो साधुता से विल्कुल अपरिचित हैं वे अगीतार्थ माने जाते है।

५ जिन को व्रतो का ज्ञान तो है, फिर भी न तो व्रतो को धारण करते है और न पालते ही है, वे अविरत-सम्यग्दृष्टि है। राजा श्रेणिक और श्री कृष्ण इसी कोटि के मानव हुए है।

६. जो व्रतो के स्वरूप को जानते हुए भी न स्वीकार कर सकते है और न पालन ही कर सकते है। एकान्त सम्यग्दृष्टि अनुत्तर वैमानिक देव इसी कोटि मे आते है।

७ जो व्रतो के स्वरूप को जानते भी हैं स्वीकार भी करते हैं, पालन नही कर सकते, वे मरीचि की तरह सविग्न पाक्षिक होते है।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्-ग्रहण और सम्यक्-पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिनको न व्रतो का ज्ञान है, न उनका विधिपूर्वक ग्रहण ही करते है और न व्रतो का यथार्थ पालन ही करते हैं, यदि कभी

घुणाक्षर न्याय से वे व्रतो को पाल भी ले तो उससे वे व्रती नही वन सकते हैं। अविरतो के उपर्युक्त सात भेदो मे से पहले चार भेद मिथ्यादृष्टि अविरतो मे पाए जाते है, क्योकि उन्हे व्रतो का यथार्थ ज्ञान होता ही नही, अत उनका व्रत-ग्रहण एव व्रत-पालन अकिंचित्कर माना जाता है। शेष तीन भेद सम्यग्-दृष्टि अविरतों मे पाए जाते है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि यथाविधि व्रतो का ग्रहण तथा पालन नही कर सकता, तथापि वे व्रतो के स्वरूप को यथार्थत जानते है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्रत-नियमो को यथावत् जानते हुए भी व्रतो को स्वीकार एव पालन नही कर सकते, क्योकि उनके अप्रत्याख्यान कषाय-चतुष्क का उदय होता है। वह उदय काल देशव्रत एव सर्वव्रतो के धारण व पालन का प्रतिवन्धक है।

देशव्रत और सर्वव्रतो के स्वरूप को भली-भाति जानकर ही सम्यग्दृष्टि जीव विधिपूर्वक उन्हे धारण करते है तथा उनका पालन करते है, तभी वे क्रमश अणुव्रतो या महाव्रती कहलाते हैं। अव्रत आश्रव है और व्रतसवर है। सुव्रती वनने से ही अव्रती होने या अविरति होने का कलक उतर सकता है। व्रत सवर से अव्रत-आश्रव का निरोध हो जाता है। पाचवे गुणस्थान से लेकर सभी गुण-स्थान उत्तरोत्तर व्रत-सवर के है।

३ प्रमाद—आदि के छ गुणस्थान प्रमाद से लिप्त हैं। प्रमाद भी अव्रत की तरह आश्रव है। प्रमाद का अर्थ है अन्त करण को दुर्वलता, धर्मविमुखता, अकर्त्तव्य मे प्रवृत्ति और कर्त्तव्य की विस्मृति। अथवा जिस कारण से जीव का मोक्ष मार्ग मे उत्साह एव प्रीति न होने पाए वह प्रमाद है। प्रमाद के आठ भेद है।[1]

---

१ प्रवचनसारोद्धार, द्वार-२०७।

जैसे कि—

(क) **अज्ञान-प्रमाद**—मोक्षमार्ग से विल्कुल अनभिज्ञ रहना-अज्ञान-प्रमाद है।

(ख) **संशय-प्रमाद**—मोक्षमार्ग के प्रति सशयशील रहना, क्या पता मोक्ष मार्ग कोई है या नही ? क्या पता नव तत्व सत्य है या मिथ्या ? इस तरह का संशय होना सगय-प्रमाद है।

(ग) **मिथ्याज्ञान-प्रमाद**—तथ्य से विपरीत ज्ञान मिथ्याज्ञान-प्रमाद है।

(घ) **राग-प्रमाद**—दृष्टिराग, स्नेहराग और काम-राग ये राग के तीन भेद है। मोह के दलदल मे फसाने वाला यदि कोई विकार है तो वह राग ही है। वह किसी मानव मे तीव्र होता है और किसी मे मद। हजारो अवगुणो के होते हुए भी उन को छोडने के लिए मनोभूमिका तैयार न होने से वह राग है।

(ङ) **द्वेष-प्रमाद**—जिस कारण से अप्रीति पैदा हो जाए वह द्वेष है, इसका स्वभाव है दूसरे मे नफरत करना। जिस पर इसकी क्रूर दृष्टि हो जाती है वह भले ही हजारो गुणो से सपन्न क्यो न हो, उसे अपनाने के लिये वह इन्कार ही करता है।

(च) **स्मृति-भ्रंश-प्रमाद**—अपने कर्त्तव्य को भूल जाना स्मृति-भ्रंश-प्रमाद है।

(छ) **धर्म-अनादर-प्रमाद**—केवलि-भाषित धर्म का अनादर करना एव उसकी प्राप्ति के लिये यत्न न करना।

(ज) **योग-दुष्प्रणिधान-प्रमाद**—मन, वचन और काय को अशुभ क्रियाओ मे लगाना प्रमाद है।

कुछ आचार्यों ने प्रमाद के पाच रूप बतलाए हैं जैसे कि—

१. मद्य-प्रमाद – मद्य आदि नशीले पदार्थों का सेवन करना, नशे में चूर रहना प्रमाद है।

२ विषय-प्रमाद—इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति रखना विषय-प्रमाद है।

३ कषाय-प्रमाद – राग-द्वेष के वशीभूत होना कषाय प्रमाद है।

४ निद्राप्रमाद—निद्रा के अधीन रहना, ज़रूरत से ज्यादा सोना प्रमाद है।

५ विकथा-प्रमाद—धर्मकथा को छोड़कर शेष सभी कथाओं का समावेश विकथा में हो जाता है। काम-वासना उद्दीपक बातें करना और खाद्य पदार्थों के खाने की लालसा प्रकट करना। खाने-पीने की बातें करने से अकल्पनीय, अनेषणीय आहार की इच्छाएं जाग उठती हैं। अखबारी दुनियां में अमूल्य समय नष्ट करना, राजा की निन्दा-स्तुति में या इधर-उधर की व्यर्थ की बातों में समय नष्ट करना विकथा है। विकथा से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें से कोई भी अतिक्रम आदि दोष से दूषित हो सकता है, अतः विकथा भी प्रमाद ही है। प्रमाद के वशीभूत होकर जीव कुछ का कुछ करता है, कुछ भी बोल देता है और कुछ का कुछ सोचता है। प्रमाद से बचने का उपाय अप्रमाद है।

अप्रमाद संवर है, इसकी विद्यमानता में जीवन के किसी भी क्षण में प्रमाद का प्रवेश नहीं हो सकता। सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में साधक अप्रमादी कहलाता है। अप्रमाद अवस्था में ही धर्मध्यान की पूर्णता होती है। मानव का सबसे बड़ा हित अप्रमाद में रहने से ही है। आध्यात्मिक गुण-

निधान यदि मिल सकता है तो वह अप्रमत्तता से ही मिल सकता है। जिस पावर हाउस मे वैज्ञानिको द्वारा स्थान-स्थान मे "खतरा-खतरा" लिखा हुआ होता है, जब कोई मानव दर्शक बनकर उसमे प्रवेश करता है तो वह सब तरह से सावधान रहता है, क्योंकि अपने को खतरे से बचाने मे ही उसकी बुद्धिमत्ता है। जहा चोर-उचक्के जेबकतरे चारो ओर घूम रहे हो, वहा पर यदि कोई व्यक्ति अपनी वस्तुओ की रक्षा सावधानी से करता है तो इसी मे उसका चातुर्य माना जाता है। जिस साधक के पास विश्व मे सर्वोत्तम एव सुदुर्लभ रत्नत्रय हो उन सबकी रक्षा वह अप्रमाद से करता है, इसी मे उसका चातुर्य है। अप्रमाद सवर है और सवर धर्म है। साधक को भारण्ड-पक्षी की तरह सदव अप्रमत्त रहना उचित है। प्रमाद के किसी भी रूप का कभी भूल कर भी आचरण न करना ही अप्रमाद सवर है।

४ **कषाय**—यह जैन सस्कृति का एक पारिभाषिक शब्द है। जिससे ससार की वृद्धि हो, जन्म-मरण की परम्परा अविच्छिन्न बनी रहे और जिससे आठ प्रकार के कर्मो का बध हो, वही कषाय है। जैसे हरड, बहेडा, आवला इनके समुदाय की त्रिफला सज्ञा है, अन्य किन्ही तीन फलो का समूह त्रिफला नही हो सकता, वैसे ही क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार विकारो के समूह का नाम कषाय है। कषाय के चार रूप हैं—अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन।

जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक ससार मे भ्रमण करता है, उस कषाय को अनन्तानुबंधी कषाय कहते है। यह कषाय अत्यन्त निकृष्ट स्तर का है और जीवन भर के लिए बना रहता है। इसमे वर्तमान जीव नरकगति के योग्य कर्मो का बध करता है तथा सम्यग्दर्शन का घात करता है।

इस कषाय के चार भेद है—अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ। इनका पृथक्-पृथक् स्वरूप इस प्रकार है—

क्रोध का स्वभाव है प्रीति और प्रेम मे दरारे पैदा कर देना। इनमे से कुछ दरारे कालान्तर मे स्वय मिट जाती हैं और कुछ उपायो द्वारा मिलाकर एक करनी पडती है। कुछ दरारे ऐसी भी होती है जो बिल्कुल भी नही मिट सकती। किसी ज्वालामुखी पर्वत के फट जाने से जो पर्वत मे दरारे पड जाती है, उन दरारो का मिलाना जैसे अशक्य है, वैसे ही जीवन भर अनेक उपाय करने पर भी जिसका क्रोध पुन. शान्त होता हो नही, वह प्रेम की भूमि में दरारे ही दरारे डालता जाता है। जिससे उत्पन्न द्वेष मानव को अशान्त कर देता है। ऐसे क्रोध का शमन करना अशक्य ही होता है।

मान का स्वभाव है अकड—कठोरता। मन मे, शरीर मे तथा वाणी मे कठोरता का होना यह प्रमाणित करता है कि वह व्यक्ति दूसरे का मान सन्मान करना जानता ही नहीं है।

मान के प्रवेश होते ही दूसरो के प्रति कठोर व्यवहार स्वभावत होने लग जाता है। जिसका मान किसी भी उपाय से नही नमता, वह कठोर पत्थर के खभे के समान होता है, उसे कोई भी यत्र या उपाय मोड नही दे सकता।

माया मे वक्रता एवं कुटिलता होती है। आन्तरिक छल-बल मित्रता का नाश कर देता है। जैसे कठिन बास की जड का टेढापन किसी भी उपाय से दूर नही किया जा सकता, वैसे ही माया की वक्रता को समाप्त नही किया जा सकता। वक्रता उसका अभिन्न अङ्ग है।

लोभ व्यक्ति को विविध प्रकार से भौतिक पदार्थों के ऐसे आकर्षणो मे बाध देता है जिनका मिटना अशक्य हो जाता है। जैसे हडताल का रग वस्त्र या तन्तु पर से कभी नही उतरता, वैसे ही अनन्तानुबधी लोभ का रग अमिट होता है।

इस प्रकार के क्रोध मान, माया और लोभ रूप कषाय अनन्तानुबधी होते है। इस प्रकार का कषाय डाकू, कसाई, शिकारी और अधर्म-रत राजाओ मे पाया जाता है। इस कषाय का अस्तित्व आदि के तीन गुणस्थानो मे पाया जाता है। इस अनन्तानुबधी कषाय पर विजय पाकर उसकी निवृत्ति करना सवर है।

जिस कषाय का उदय होने पर साधक सम्यग्दृष्टि तो रह सकता है, किन्तु श्रावक-धर्म की उपलब्धि नही कर सकता, उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं। जिस जीव मे इस स्तर का कषाय उदित हो जाता है वह अधिक से अधिक एक वर्ष तक ठहर सकता है। इसके उदय होने पर तिर्यञ्चगति के योग्य कर्मो का बध और श्रावकवृत्ति का घात किया जाता है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

जिसका क्रोध उस दरार के समान है जो सूखे तालाब आदि मे मिट्टी के फट जाने से पड जाती है और वर्षा हो जाने पर वह दरार फिर स्वत ही मिल जाती है। इस स्तर का क्रोध कुछ उपायो से शान्त हो सकता है। वह इतनी जल्दी शान्त नही होता फिर भी उसके अस्तित्व की अवधि वर्ष भर मानी जाती है।

जिसका मान हड्डी के स्तम्भ के समान होता है उसे बड़े परिश्रम से नमाया जा सकता है आसानी से नही। किसी वैज्ञानिक विधि से ही उस स्तम्भ मे कुछ नम्रता लाई जा सकती है साधारण तरीके से नही। इसी प्रकार कुछ साधको मे मान इस

प्रकार का होना है जिसे तप द्वारा शास्त्र-वचनो द्वारा एव सन्तो केउपदेश द्वारा भुकाया जा सकता है।

जैसे मेढे के सीग का टेढापन विशेष विधियो से सीधा हो जाता है, अर्थात् कुछ उपायो से उसे सीधा किया जा सकता है,वैसे ही कुछ साधको की माया वड़े परिश्रम से ही दूर हो सकती है। इस माया की स्थिति भी उत्कृष्ट साल भर रह सकती है।

गन्दे नाले का कीचड यदि वस्त्र आदि मे लग जाए तो वह अतिकष्ट से छूटता है। अप्रत्याख्यान लोभ का स्वभाव भी इसी प्रकार का होता है। यह कषाय चौथे गुण स्थान तक रहे हुए जीवो मे पाया जाता है। इस कषाय के क्षय या उपशम करने को भी संवर कहा जाता है। अविरत-सम्यग्दृष्टि मानव सवत्सरीपर्व पर क्षमापना द्वारा इसे छोड देते हैं, इस अपेक्षा से इस कषाय की स्थिति साल भर की वताई गई है।

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय वह कहलाता है जिसकी उपस्थिति मे सर्वविरतित्व के भाव उदित नही हो पाते और वह देशविरतित्व (श्रावक धर्म) मे बाधक नही बनता। इस कषाय की स्थिति उत्कृष्ट चार महीने की मानी गई है। इस कषाय के उदय भाव मे जीव मनुष्यगति-योग्य कर्मों का उपार्जन करता है। इस कषाय के अतर्गत जव भी क्रोध उत्पन्न होता है तो उसका स्वभाव रेत मे खीची हुई लकीर के समान होता है। रेत मे लकीर खीचने पर कुछ ही समय मे वायुवेग से वह लकीर रेत से भर जाती है, वैसे ही यह क्रोध, क्षमा आदि सुविचारो से शान्त हो जाता है।

जो मान काठ के खभे के समान है जैसे काठ को तेल मसलने से या अग्नि का सेक देने से वह नम जाता है, वैसे ही जो मान

किन्ही विशेष उपायो से हट जाता है, वह मान इसी कोटि का होता है।

जैसे चलता हुआ बैल जब मूत्र करता है, तब धरती पर टेढी-मेढी लकीर पड़ जाती है। उसके सूख जाने पर या उस लकीर पर वायुवेग से धूल गिर जाने पर जैसे उसका टेढापन मिट जाता है, वैसे ही जिस माया या वक्रता को कुछ परिश्रम से दूर किया जा सकता है, वह माया इस कषाय की कोटि मे मानी जाती है।

काजल का रग या खजन (गाडी के पहिए का काला तेल) का रग जिस शरीर पर या वस्त्र पर चढ जाता है, वह रग फिर कठिनाई मे ही हटता है। वैसे ही लोभ भी जाव को जब अपने रग मे रग देता है, तब वह लोभ का रग जल्दी तो नही, अनेक उपायो से अवश्य उतर जाता है। जब इस लोभ कषाय का क्षय या उपशम होता है, तब प्रत्याख्यानावरण कषाय का आश्रव निरुद्ध हो जाता है। यह भी आंशिक कषाय-सवर माना जाता है।

सज्वलन कषाय की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश दो मास, एक मास, एक पक्ष और अंतर्मूहूर्त की है। इसके उदय से जीव देवगति के योग्य-कर्मो का बन्ध करता है। इस कषाय की उपस्थिति में वीतरागता की अनुभूति नही होने पाती। सज्वलन कषाय का स्वरूप इस प्रकार है—

सज्वलन कषाय वाले साधक का क्रोध पानी मे खीची हुई लकीर के समान होता है जोकि सुविचारो से शीघ्र ही शान्त हो जाता है। उसका मान बेत की छटी के समान होता है, जिसको आसानी से नमाया जा सकता है। जीवन मे अनेकान्तवाद के अवतरण से सब तरह की अकड, हठीलापन एव दुराग्रहो से उत्पन्न हुई अहता क्षण भर मे विशीर्ण हो जाती है। जिसमे ऊन के धागे के

समान रहा हुआ माया का टेढापन यथाशीघ्र दूर हो जाता है। जिसका लोभ हल्दी के रग के समान सहज हो उतर जाता है इस तरह के कषाय को सज्वलन कषाय कहते हैं। इस कपाय का अस्तित्व छठे से दसवे गुण-स्थान तक पाया जाता है। ग्यारहवे, बाहरवे, तेहरवे और चौदहवे गुणस्थान मे कपाय आश्रव का पूर्ण निरोध हो जाता है। सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कपाय का क्षय होता है, उसके बाद अप्रत्याख्यान कपाय का, फिर प्रत्याख्यानावरण का और अन्त मे सज्वलन कपाय का क्षय होता है। इसी को अकपाय-सवर कहते है।

५ योग—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति—व्यापार को आगमो की भाषा मे योग कहते हैं। इनकी प्रवृत्ति शुभ भी होती है और अशुभ भी। अशुभ-प्रवृत्ति को पाप और शुभ प्रवृत्ति को पुण्य[1] कहा जाता है, परन्तु जैन दृष्टि से दोनो ही आश्रव है। योगो की प्रवृत्ति पहले से लेकर तेहरवे गुणस्थान तक जीवो मे रहती है। प्रमत्त गुणस्थानो तक दोनो तरह की प्रवृत्तिया रहती है, किन्तु अप्रमत्त गुण स्थान से लेकर तेहरवे सयोगी केवलि-गुणस्थान तक शुभ प्रवृत्ति ही होती है, अशुभ नही। चौदहवे गुण-स्थान मे पहुच कर साधक अयोगी केवली बन जाता है, तब तीनो योगो की पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है। योग की पूर्ण निवृत्ति ही सवर है। सब से पहले अशुभ योगो से निवृत्ति पाई जाती है। उसके बाद उत्तरोत्तर गुण-स्थानो मे शुभ योगो से भी निवृत्ति होती जाती है। योग-निवृत्ति ही सवर है। यह सवर ही ध्यान की एकग्रता का साधक है।

---

१ पच आसवदारा पण्णत्ता, त जहा—मिच्छत्त, आविरई, पमाओ, कसाया, जोगा। ठाणाङ्गसूत्र-ठाणा-५,

२१. आत्म-दोषोपसंहार

अलौकिक शक्तियो की रचना मनुष्य अपने वास्तविक अनुभव के आधार पर अपने मन से करता है, वह स्वय ही अपने मन मे भीति और प्रीति का आरोप कर लिया करता है। इस सदर्भ मे साधक के दो प्रयत्न होते है—एक उन्हे मना लेने का और दूसरा उन्हे आधीन करने का। मनाने की क्रिया को आराधना और वश मे करने की क्रिया को साधना कहते हैं। मानव-जीवन मे कर्म-जन्य जितने भी दोष हैं, आराधना या साधना द्वारा उनका उपसंहार या सकोच करना ही 'आत्म-दोष उपसहार" है। जैसे अग्नि में ईधन न डालने से उसका विस्तार स्वत ही रुक जाता है, वैसे ही अपने मे रहे हुए अवगुणो भूलो या दोषो का उपसहार करने का अभ्यास नित्यप्रति करते रहने पर नवीन कर्म-बन्ध स्वत ही रुक जाता है। एक वार नवीन कर्म-बन्धन के रुक जाने पर, वह पुन. आरम्भ न हो जाए, इसके लिये साधक को निरन्तर यत्नशील रहना अनिवार्य है।

जीवन मे यदि कोई अवगुण या दोष प्रतीत हो तो उसको निकालने का शीघ्र ही कोई न कोई उपक्रम करना चाहिए। यदि किसी यान का एक पहिया पचर हो जाए और तीन पहिए सर्वथा ठीक भी हो तो वह यान आगे नही बढ सकता। इसी प्रकार

जीवन मे यदि एक भी दोप प्रविष्ट हो जाता है तो जीवन-यान का साधना-पथ पर अग्रसर होना कठिन हो जाता है।

दोप अनेक तरह के होते हैं, किन्तु उनमे दो तरह के दोष मुख्य हैं—जैसे कि व्यावहारिक और नैश्चयिक। व्यावहारिक दोप भी सैकडो ही नही, हजारो तरह के होते हैं, उनमे से भी कोई दोष सामान्य और कोई विशेष होता है। व्यावहारिक दोप व्यावहारिक क्षेत्र मे समुन्नति एव सफलता नही प्राप्त करने देते और नैश्चयिक दोप आध्यात्मिक साधना मे साधक को अग्रसर नही होने देते।

अपने मे रहे हुए दोषो का ज्ञान मनुष्य को स्वत भी होता है, किसी अनुभवी एव साधना-सम्पन्न महापुरुषो द्वारा भी दोषो का ज्ञान कराया जाता है और शास्त्रो के अध्ययन से भी अपनी अज्ञता एव दोषो का ज्ञान हो जाता है। जैसे मकान मे घुसे हुए एव इधर-उधर छिपे हुए चोरो को कोई समर्थ व्यक्ति एक-एक को खोज-खोज कर पकड़ता है और बाहिर निकाल देता है। इसी प्रकार साधक भी अपने जीवन मे छिपे हुए दोपो को भीतर नहीं रहने देता। जैसे दान्तो के अन्तराल मे फसे हुए तिनके आदि को जिह्वा निकाल कर ही दम लेती है। जब तक वह न निकल जाए, तब तक उसे चैन नही पड़ता, वह बार-बार उसी स्थान का स्पर्श करती है। वैसे ही अपने द्वारा कृत दोपो को निकाल कर ही साधक शान्ति का अनुभव कर सकता है। साधक को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दोष देखना हो तो अपना देखो, जिससे दोप दूर करने की प्रवृत्ति पैदा हो और अहकार मिट कर जीवन मे नम्रता का उदय हो और यदि गुण देखने हो तो दूसरो के देखो, जिस से गुणग्राहकता की वृत्ति जागृत हो सके। दोषो के ह्रास से गुणो का विकास

होता है। रगड के विना जैसे रत्नो पर पालिश नही होती, इसी प्रकार कठिनाइयो के विना मानव पूर्ण नही हो पाता और दृढ साधना के विना जीवन मे से दोप नही निकलने पाते।

दुनिया मे सव से कठिन काम अपना सुधार है और सवसे आसान काम दूसरो की आलोचना एव नुक्ताचीनी है। पाप एव दोपो की पहचान ही मुक्ति-मार्ग का प्रथम कदम है। मानव-रोगो के भय से खाना तो वन्द कर देता है किन्तु दण्ड और मरण के भय से वह पाप एव वुराई वन्द नही करता। मानव की यही वड़ी कमज़ोरी है। जो साधक सच्ची निवृत्ति चाहता है, उसे चाहिए कि वह तमाम पापो, दोपो और उल्टी समझ को छोड दे। कोई भी दोष छोटा नहीं है, घड़ी की मशीन में कोई भी पुर्जा छोटा नही होता। एक दोप दूसरे दोप के प्रवेश के लिये इन्द्रिय रूपी द्वार खोल देता है। मनुष्य से दोप या भूल हो जाना स्वाभाविक है। जो दोष-सेवन हो जाने से दुखी होता है, वह साधु है और जो उस पर अभिमान करता है वह शैतान है। यदि कोई व्यक्ति किसी दोष को दो-चार वार कर लेता है तो फिर उसे वह अपराध नही प्रतीत होता। वह मानसिक भाव जो मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होता है और जिसकी प्रेरणा से मनुष्य वुरे कामो में प्रवृत्त होता है वह दोप है। दोष एक ही नही अनेको हैं। चाहे दोप कैसा भी हो, उससे आत्मा का पतन होता है साधक विराधक वन जाता है। दोषो का उपसहार जीवन के उत्थान का एव आराधक वनने का मार्ग है। ज्यो-ज्यो रागद्वेप की प्रवृत्ति कम होती जाएगी और निवृत्ति वढती जाएगी, त्यो-त्यो समत्वयोग के साथ-साथ सभी गुणो का विकास स्वय वृद्धि को प्राप्त होता जाएगा। अत साधक को आत्म-दोपो का उपसंहार करने के लिये सर्वदा यत्नशील रहना चाहिये। ●

२२. सर्व-काम-विरक्तता

प्रत्येक शब्द अनेकार्थक है, इसमे दो मत नही हो सकते। काम शब्द भी अनेकार्थक है, और यह प्रसगानुसार दो अर्थों मे रूढ है—इच्छा और कामवासना। आशसा, आशा, तृष्णा, वाञ्छा, काम, ये सब इच्छा के ही अपर नाम हैं। इच्छाओ का सम्बन्ध प्राय जड-चेतन पदार्थों से है। इच्छाए आकाश के समान अनत हैं, उनकी कोई सीमा नही है।

इच्छा और मूर्च्छा दोनो परिग्रह के अग है। परिग्रह की अपेक्षा, इच्छा महती है। इच्छा को शास्त्रकारो ने दस भागो मे विभक्त कर दिया है। प्रत्येक भाग मे भी इच्छा के अनेक रूप हो सकते हैं जैसे कि—

१ **इहलोकाशसा-प्रयोग**—इस लोक से जिस इच्छा का सम्बन्ध है, वह इहलोक-आशसा है। जब यह आशसा बलवती हो जाती है, तब उस आशसा के साथ 'प्रयोग' शब्द का निवेश कर दिया जाता है। इच्छा करनेवाला जीव जिस भव मे है उसी से मिलता-जुलता भव मृत्यु के बाद भी प्राप्त हो तथा शरीर बल, रूप, सुख, सत्ता समृद्धि इत्यादि लौकिक वैभव से समृद्ध भव की कामना करना 'इह लोक-आशसा-प्रयोग है'।

२. **परलोकाशंसा-प्रयोग**—जिस इच्छा का सम्बन्ध परलोक

से है, अर्थात् देव आदि भवो से है, उसे परलोक-आशसा-प्रयोग कहा जाता है। इस लोक मे तपस्या आदि शुभाचरणो के बदले मे मुझे इन्द्र आदि का पद मिले, अथवा नौ प्रकार का निदान करना 'परलोकाशसा-प्रयोग है।' जिस साधक की बहुत सी कामनाए इस लोक मे अपूर्ण रह गई है, वह मानव अगामी भव मे सब तरह से सपन्न होने के लिए "परलोकाशसा-प्रयोग" करता है।

३ उभयलोकाशसा-प्रयोग—जिस बलवती इच्छा का सबध दोनो लोकों से हो वह उभयलोकाशसा-प्रयोग है। यह इच्छा दोनो लोको को स्पर्श करनेवाली होती है। इस लोक मे सब तरह समुन्नत बनूँ और परलोक मे भी समुन्नत ही बना रहू, अथवा इस लोक मे की गई तपस्या आदि के फल स्वरूप मैं परलोक मे सर्वोच्च देव बनू और वहा से आयुपूर्ण कर इस लोक मे चक्रवर्ती एव राष्ट्रपति आदि बनकर सुख भोगू, यह कामना ही 'उभय-लोकाशंसा-प्रयोग' है।

सामान्य इच्छाए तीन तरह की होती हैं, किन्तु विशेप विवक्षा से इनके सात भेद इस प्रकार किए गए है।

(क) जीविताशसा प्रयोग—जिस इच्छा का सम्बन्ध दीर्घ-कालिक जीवन से हो, वह इस कोटि मे गर्भित है। सुख, समृद्धि राजसत्ता, मान-प्रतिष्ठा, शुभ परिवार को प्राप्त कर जीने की इच्छा करना या अपने ही स्त्री-पुत्र आदि के जीने की इच्छा करना 'जीविताशसा प्रयोग' है।

(ख) मरणाशसा-प्रयोग—दु खो एव रोगो से तग आकर मरने की इच्छा करना, मेरा मरण शीघ्र हो जाए ताकि मेरा इस दु ख से छुटकारा हो जाए, अथवा लज्जा एव अपमान के वशीभूत होकर मरने की इच्छा या मरने की तैयारी करना

'मरणाशंसा प्रयोग' है।

(ग) कामाशंसा प्रयोग—जिस इच्छा का संबंध मन पसन्द शब्द और रूप से हो, जैसे कि मुझे अभीष्ट शब्द सुनने को मिलें और अभीष्ट रूप देखने को मिले, ऐसी कामना करना "कामाशंसा-प्रयोग" है।

(घ) भोगाशंसाप्रयोग—अभीष्ट गंध, रस और स्पर्श की अनुभूति को भोग कहते हैं, अमुक तरह के सुगंधित पदार्थ, खाने-पीने के स्वादिष्ट पदार्थ और अनुकूल स्पर्शवाले पदार्थ मुझे मिलें, ऐसी चाहना करना 'भोगाशंसाप्रयोग' है।

(ङ) लाभाशंसाप्रयोग—लाभ भी अनेक तरह का होता है—विजय-लाभ, संपत्ति-लाभ, सत्ता-लाभ, शुभ परिवार का लाभ, सुख एवं ऐश्वर्य का लाभ, स्वास्थ्य-लाभ, और समुन्नति-लाभ आदि। इस प्रकार की लौकिक एवं भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए कामना करना तथा योगजन्य, एवं तपोजन्य लब्धियों को प्राप्त करने की कामना करना या मेरे अमुक साथी को उक्त लाभ हो, ऐसी कामना को "लाभाशंसा प्रयोग" कहते हैं।

(च) पूजाशंसा-प्रयोग—मैं देवों की तरह पूजा जाऊं या पूज्यजनों की तरह संसार मे मेरी पूजा हो, मेरा ही सब ओर बोल-बाला हो, ऐसी तीव्र इच्छा को 'पूजाशंसा-प्रयोग' कहते हैं।

(छ) सत्काराशंसा-प्रयोग—मेरा सब लोग आदर-सत्कार करें, इनाम मिले, भरी सभा मे अभिनंदन हो, स्वागत एवं विदाई समारोह हो, मुझे थैली भेंट की जाए एवं अमूल्य पदार्थों के उपहार मिलें, लोगों से इस तरह के सत्कार की कामना करना 'सत्कारा-शंसा-प्रयोग' है।[1] इन सभी तरह की इच्छाओं से विरक्त होना

---

१. स्थानाङ्गसूत्र, स्थान दसवां

सर्वकाम विरक्तता है।

काम शब्द का अर्थ काम-वासना भी है। वेद-मोहनीय कर्म-प्रकृति के उदय से मन, वाणी और काय मे जो विकृतिया आती हैं, यह उन विकृतियो का ही परिणाम है। जैसे भौतिक-सिद्धिया साधक को भटका देती हैं, वैसे ही भौतिक एव वासना-जन्य आनन्द भी आध्यात्मिक आनन्द से साधक को भटका देता है। वेद का अर्थ है—वासना की पूर्ति के लिए विपरीत लिंगी की चाहना। उस वेद-मोहनीय-कर्म प्रकृति की सत्ता को सयम-पूर्वक तप द्वारा बलहीन किया जाता है। सत्ता के बलहीन होने से उसका उदय भी मद, मंदतर एव मदतम हो जाना स्वाभाविक है। जब संचित कर्म-प्रकृति की स्थिति और उसके फल देने की शक्ति नही जैसी हो जाती है, तब उस प्रकृति का उदय साधक के जीवन को प्रभावित नही कर पाता। तभी उसमे सर्व-काम-विरक्तता की साधना जागृत होती है। कामाग्नि को योग से शान्त किया जाता है। सबसे पहले कषायाग्नि को शान्त किया जाता है, उस से मन शान्त हो जाता है। मनके शान्त होने पर इन्द्रिया भी अपने-अपने विषय को ग्रहण करने के लिए उत्सुक नही रह जाती। इन सबके शान्त हो जाने पर वासना स्वय शान्त हो जाती है। इस क्रम से सर्व-काम-विरक्तता नामक योग-सग्रह की आराधना सहज हो जाती है। साधक को सदैव सर्वकाम विरक्तता की साधना का अभ्यास करते रहना चाहिए।

पश्चिमी वैज्ञानिको ने इच्छा के आठ भेद किए है। मैं समझता हू कि उनके द्वारा प्रस्तुत भेदो की अपेक्षा जैनागमो द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त इच्छा-विभाग अधिक उपयुक्त एव मनो-वैज्ञानिक है।

२३. मूलगुण-प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान का अर्थ है परित्याग करने की दृढ-प्रतिज्ञा अर्थात् निन्दनीय एव सर्व सावद्य कर्मो एव मोहजनक पदार्थो से निवृत्ति। ज्ञान पूर्वक दृढ-प्रतिज्ञ होकर किया हुआ प्रत्याख्यान ही महत्त्व पूर्ण होता है। चित्र तैयार करने से पहले जैसे चित्रकार को उसके स्वरूप का, उसके साधनो का उन साधनो के उपयोग का विशिष्ट ज्ञान होता है और इसी ज्ञान के अनुसार जब वह क्रिया भी करता है, तभी वह चित्र तैयार कर पाता है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी मुमुक्षु के लिए आत्मा, बध, और मोक्ष के उपायो का तथा उनके परिहार एव उपादेयता का ज्ञान होना आवश्यक है। शास्त्रकार कहते है "ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष" ज्ञान और क्रिया का सतुलित प्रयोग ही मोक्षमार्ग है। जिन पापो के त्याग से आत्म-गुणो का विकास हो, जीवन अलौकिक एवं आदर्श बन जाए जिन साधनो से मोह-कर्म पर विजय प्राप्त हो जाए, आत्मसमाधि जाग उठे, परमानन्द की प्राप्ति हो सके उसे "मूल-गुण प्रत्याख्यान" कहते है।

चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम अथवा सर्वथा क्षय होने से इस गुण की उपलब्धि होती है। चारित्र एव सयम को "मूलगुण-प्रत्याख्यान" कहा जाता है। आत्मस्वरूप मे

तल्लीन करनेवाली आत्मा की विशुद्ध परिणति या सम्यक् क्रिया ही चारित्र है। साधक ज्यो-ज्यो योगों अर्थात् प्रवृत्तियो का निरोध करता है, त्यो-त्यो उसकी स्व-स्वरूप मे तल्लीनता वढती जाती है। योगो का पूर्णतया निरोध ही चारित्र की उपयोगिता है। ज्ञान-दर्शन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ही चारित्र है। कषायो और लेश्याओ से योग चचल हो उठते हैं, इन दोनो से निवृत्त होते ही योग-निरोध स्वत ही हो जाता है।

यद्यपि भावो की विशुद्धि को ही चारित्र कहते हैं, तथापि उसके आन्तरिक एव वाह्य भेदो से वह पाच प्रकार का है, जैसे कि— सामायिक-चारित्र, छेदोपस्थापनीय-चारित्र, परिहार-विशुद्धि-चारित्र, सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र और यथाख्यात-चारित्र। इनका परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है —

१ सामायिक—जिससे समत्व-योग का या रत्नत्रय का लाभ हो वह सामायिक है। सर्व सावद्य योगो का त्याग और निरवद्य प्रवृत्ति एव निवृत्ति का सेवन अथवा राग-द्वेष से रहित आत्मा द्वारा प्रतिक्षण अपूर्व कर्म-निर्जरा से होने वाली आत्म-विशुद्धि सामायिक है।

यो तो चारित्र के सभी भेद सावद्ययोग विरतिरूप हैं, इस अपेक्षा से सभी भेद सामायिक मे गर्भित हो जाते है, क्योकि छेदो-पस्थापनीय आदि सभी भेदो का आधार सामायिक चारित्र ही है। इसके विना अन्य चारित्रो का जीवन मे अवतरण नही हो सकता। तीर्थङ्कर भी सर्व प्रथम सामायिक चारित्र ही ग्रहण करते हैं, अत इसका अस्तित्व सभी तीर्थङ्करो के शासनकाल में पाया जाता है। इसे धारण किए विना कोई भी साधक किसी अन्य चारित्र का अधिकारी नही वन सकता।

इसके भी मुख्यत. दो भेद हैं—देश-सामायिक और सर्व-सामायिक। जो दो घडी आदि के रूप मे समय की सीमा बाधकर दो करण एव तीन योग से सामायिक की जाती है वह देश-सामायिक है। इसका अधिकारी आदर्श गृहस्थ होता है।

जो तीन योग और तीन करण से धारण किया जाता है तथा जिसमे समय और देश का सीमा नही बाधी जाती, जो ग्रहण-काल से लेकर जावन भर के लिए धारण किया जाता है- वह सर्व-सामायिक है। जो नर-नारी सर्व सामायिक को धारण करते है वे साधु एव साध्वी कहे जाते है।

छेदोपस्थापनीय—जिस चारित्र मे पूर्व पर्याय का छेद एव महाव्रतो का उपस्थापन (आरोपण) होता है, अर्थात् पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिए जाते है, उसे 'छेदोपस्थापनीय" कहते है। सार्वभौम पाच महाव्रतो का पालन साधुत्व की अनिवार्य शर्त है, इनका पालन किए विना कोई भी साधक साधु नही कहला सकता। पांचो महाव्रतो का परस्पर एक दूसरे से सम्बन्ध है। एक महाव्रत के भग होने से सभी महाव्रत भग हो जाते है और एक के दूषित होने से सभी महाव्रत दूषित हो जाते है। प्रसगानुसार महाव्रतो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना भी आवश्यक होगा।

१. प्राणातिपात-विरमण-महाव्रत—

प्राणो का अतिपात, विनाश अर्थात् अपहरण करना ही प्राणातिपात है। विरमण का अर्थ है उस प्राणातिपात से निवृत्ति, अर्थात् हिंसा से सर्वथा विरक्त होना ही पहला महाव्रत है। अहिंसा दो प्रकार की होती है—विधिरूपा और निषेधरूपा। यदि दोनो मे परस्पर तुलना की जाए तो निषेधरूपा अहिंसा का क्षत्र विशाल

है। किसी को मारना तो दूर रहा पीडा, पहुचाना भी हिसा ही है। दोनो क्रियाओ से दूर रहना यह निषेध-प्रधान अहिंसा है।

किसी की सेवा करना, रक्षा करना एव उसे सकटो से बचाना विधि-प्रधान अहिंसा है। निषेध-प्रधान अहिंसा ही महाव्रत है। विधि-प्रधान अहिंसा तो कुछ मर्यादाओ मे बंध कर चलना मात्र है।

वस्तुत देखा जाए तो अहिंसा कायदे-कानूनो का धर्म नही है, अहिंसा दुर्बलो का मार्ग नही है, अहिंसा कायरो का पन्थ नही है, अहिंसा कोई बातो की सिद्धि नही है और अहिंसा किसी सम्प्रदायविशेष की अपनी निधि भी नही है। अहिंसा को समझने और उसका पालन करने के लिये उदार चरित्र और ज्ञान की आवश्यकता होती है। आचार और विचार मे, चारित्र और बल में, कर्त्तव्य और मनोभावना मे, साधक को अहिंसा का सर्वतोभावेन पालन करना होता है। अपने भीतर निरीक्षण करने पर ही अहिंसा का पालन दृढ मन से हो सकता है। अहिंसा की आराधना के लिये मन में मैत्री, प्रेम, सहानुभूति, क्षमा, सहिष्णुता का होना अनिवार्य है। इनके बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता, क्योकि जो अपने प्रति कठोर होता है वही दूसरे के प्रति उदार हो सकता है। जब तक अहिंसक के मन मे दूसरे की फजीहत से गुदगुदी होती है, तब तक यही समझा जाता है कि उसमे अभी दुष्टता बाकी है। अहिसा भगवती की आराधना करनेवाले साधक के लिये सब से पहले कषायो की उपशान्ति आवश्यक है, क्योकि कषायवृत्ति का और अहिंसावृत्ति का परस्पर विरोध है।

जीवन पर्यन्त त्रस और स्थावर सभी जीवो की हिसा से सर्वथा निवृत्त होना, न स्वय मन से हिंसा करना, न वाणी से

हिंसा करना, न काय से किसी की हिंसा करना, दूसरो से भी मन, वाणी और काय से हिंसा न-कराना, हिंसा करनेवाले का मन-वाणी-काय से समर्थन भी न करना ही अहिंसा की पूर्ण आराधना है। इस महाव्रत की पाच भावनाए हैं, जैसे कि—

१. ईर्यासमिति-भावना—साधु या साध्वी को चाहिए कि चलते समय, बैठते समय, सदैव ईर्यासमिति के पालन का ध्यान रखे ईर्यासमिति के बिना जीव-हिंसा से बचना असम्भव है।

२. मनोगुप्ति—सयम-शील अप्रमत्त साधु अपने मन को शुभ प्रवृत्तियों में ही लगाए। जो साधु मनोगुप्ति पर ध्यान नही देता वह निश्चय ही प्राणियों की हिंसा करता है। काय-गुप्ति होते हुए भी मन की दुष्ट प्रवृत्ति कर्म-बध का कारण बन जाती है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयो"—निश्चय ही बध और मोक्ष का कारण मन ही है, अत मन पर नियत्रण रखना आवश्यक है।

३. वचन-गुप्ति—अहिंसा को पापो में प्रवृत्त करनेवाली एव दूसरों को कष्ट देनेवाली ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये। जिससे किसी प्राणी की हिंसा हो, उसे कष्ट हो, क्योंकि सावद्य भाषा मे प्रवृत्ति करने वाले से प्राणियो की हिंसा का होना अनिवार्य है।

४. आदान भण्डमात्र-निक्षेपणा-समिति—वस्त्र पात्र आदि किसी भी उपकरण को अयतना से लेने और रखने से प्राणियो की हिंसा का होना सभव है, अत. किसी भी वस्तु को देखकर, झाड़ कर, साफ कर यतनापूर्वक उसे ग्रहण करे और रखे, तभी इस महाव्रत की रक्षा हो सकती है।

५. आलोकित-पान-भोजन—साधु खुले मुह वाले पात्र-

मे आहार पानी ग्रहण करे, प्रकाश वाले स्थान में देखकर भोजन करे, विना देखे आहारादि ग्रहण करने वाला या उसका सेवन करनेवाला साधक प्राणियो की हिंसा से बच नहीं सकता है।

जो साधक इन पाच भावनाओ से भावित है वही इस महाव्रत का रक्षक एव पालक है।

२. मृषावाद-विरमण महाव्रत—

अपने लिये, पर के लिये या दोनो के लिये किसी भी स्थिति मे क्रोध से, लोभ से, भय एव हंसी-मजाक मे मन-वाणी और काय से स्वय न झूठ बोलना, न दूसरो से झूठ बुलवाना और, झूठ बोलने वाले का समर्थन भी न करना, मन से सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना और काय से सब के साथ सद् व्यवहार करना यह है उच्च साधक का दूसरा महाव्रत। मौन रखना, विकथाओ से बचना भी इस महाव्रत के अग हैं। यदि साधक को झूठ से बचना है तो पहले उसे अत्युक्ति से बचना आवश्यक है। शास्त्र, कला और आध्यात्मिक सौंदर्य ये सब सत्य की ओर ले जाने वाली सीढियां हैं। सत्य उसी के हृदय मे उदित होता है, जिसका जीवन परम सात्विक हो, जो रागद्वेप से रहित हो। ज्यो-ज्यो साधक सत्य की ओर बढता है, त्यो-त्यो दूर की बातें उसे प्रत्यक्ष दीखने लगती है। सत्य स्वयं भगवान है, यदि किसी ने भगवान के दर्शन करने हो तो वह सत्य के दर्शन करले, उसे भगवान के दर्शन स्वत ही हो जाएगे।

असत्य नेगेटिव है, जब कि सत्य पाजिटिव है। सत्य और असत्य दोनो ही अनन्त हैं। असत्य से जब साधक पूर्णतया निवृत्त हो जाता है तब निश्चय ही उसे अखण्ड सत्य के दर्शन होने

लगते हैं। दूसरे महाव्रत की पाच भावनाए है उनके सम्यक् पालन करने से ही सत्य के दर्शन हो सकते हैं। जैसे कि—

(क) **अनुविचिन्त्य भाषणता**—सत्यवादी को सम्यग्-ज्ञान पूर्वक विचार करके बोलना चाहिए, क्योकि विना विचारे बोलने वाला कभी असत्य से वच नही सकता।

(ख) **क्रोध-विवेक**—सत्यवादी को क्रोध के दुष्परिणामो को जानकर उसे छोड देना चाहिए। क्रोधान्ध व्यक्ति सत्य की मर्यादा का उलघन कर जाता है स्व-पर का भान उसमे नही रहता, वह सत्य-असत्य का विवेक खो बैठता है। अत जब भी क्रोध आने लगे तभी उसका नियन्त्रण करना क्रोध-विवेक है।

(ग) **लोभ-विवेक**—मानव लोभ के वशीभूत होकर झूठ बोल जाता है, क्योकि धन-प्राप्ति की इच्छा असत्य की सबसे प्रिय सखी है, अत सत्यवादी को सत्य की रक्षा के हेतु लोभ से भी निवृत्त होना चाहिये। साधक के लिये सन्तोष से लोभ का नियत्रण करना आवश्यक ही नही अनिवार्य है।

(घ) **भय-विवेक**—सत्य की रक्षा के लिये और झूठ से वचने के लिए सत्यवादी को निर्भीक रहना चाहिए। अपने प्राणो को वचाने की इच्छा सत्यव्रत को दूषित कर देती है, प्राण-भीरु साधक महाव्रतो की रक्षा नही कर सकता है।

(ङ) **हास्य-विवेक**—जिसे सत्यवादिता की रक्षा करनी है और सत्य भगवान की आराधना करनी है, उसे हसी-मजाक छोडना ही पड़ेगा, क्योकि हास्य-वश मानव बहुधा झूठ बोल जाता है। जब तक बात मे झूठ की पुट न दी जाए तब तक हंसी-मजाक का रूप ही नही बनता है, अत इन पाच भावनाओ से ही सत्य

की सम्यक् आराधना हो सकती है।

३. अदत्तादान विरमण-महाव्रत—

किसी की विना दी हुई वस्तु को भूलकर भी न उठाना या वस्तु के स्वामी की आज्ञा लिये विना किसी वस्तु पर एव स्थान पर अपना अधिकार न जमाना, चोरी की सभी विधियो से विरक्त होना तीसरा महाव्रत है। यद्यपि चोरी के छोटे-बड़े अनेक भेद हैं, जैसे कि किसी की जेव कतरना, किसी का ताला खोलकर वस्तु उठाना, रिश्वत खाना, अमानत मे खयानत करना, काला-धन कमाना, किसी की दीवार मे सेंध लगाना, ठग-विद्या से धन कमाना, किसी की भूमि पर पडी हुई वस्तु को हड़प कर लेने की बुद्धि से उठाना, यात्रियो के धन-माल को लूटना, थोडा काम करके अधिक लेने की इच्छा रखना, मजदूर से काम अधिक लेना और मज़दूरी थोडी देना, किसी के लाभ मे विघ्न डालना, विना याचना किए वस्तु का उपयोग करना, शुभ काम किया किसी और ने दूसरो को यह कहना कि 'अमुक काम मैंने किया है, बटवारा ठीक न करना, समय पर काम न करना, किसी वस्तु की आज्ञा ली है किसी और काम के लिए, उसका उपयोग अन्य काम मे कर लेना, ये सब चोरी के ही नाना रूप हैं। चोरी की सभी विधियो एव भेदो से पूर्णतया निवृत्ति पाकर जीवन भर के लिए मन, वचन, काया से न स्वय चोरी करना, न दूसरे से चोरी कराना और न चोरी करने वाले का समर्थन ही करना "अदत्ता-दान-विरमण महाव्रत" है।

यद्यपि छोटी-बड़ी चोरियो के अनगिनत भेद हैं, तथापि शास्त्रकारो ने उन सब को चार भागो मे विभक्त कर दिया है, जैसे कि—द्रव्य-चोरी, क्षेत्र चोरी, काल-चोरी, और भाव-चोरी।

वस्तु के स्वामी की आज्ञा लिये विना या उससे याचना किए विना किसी की वस्तु का ग्रहण करना द्रव्य चोरी है।

किसी स्थान या मकान आदि पर बिना आज्ञा के बलपूर्वक आधिपत्य जमाना क्षेत्र-चोरी है।

द्रव्य और क्षेत्र को जितने समय के लिए ग्रहण किया हो उतना समय पूर्ण होने पर भी वापिस न करना, अपने काम पर ठीक समय से न पहुचना काल-चोरी है।

लौकिक दृष्टि से जिस को चोरी कहते है, वे प्राय द्रव्य-चोरी और क्षेत्र चोरी के ही रूप हैं। काल-चोरी भी अपेक्षा-कृत मान ली जाती है। समय पर काम न करना, समय पर कार्यालय मे न पहुंचना और समय पर पारिश्रमिक न देना, समय पर कर्ज़ा लेकर न लौटाना चोरी है।

तप-चोर, वच-चोर, रूप-चोर, आचार-चोर और भाव-चोर, इनका भी आगमो मे उल्लेख प्राप्त होता है।[1] महाव्रती को इन की ओर भी ध्यान देन चाहिए।

वहुत वार नाम समान होने से जनता भ्रम मे पड जाती है। भ्रान्त व्यक्ति की भ्रांति को न निकालकर उसे और अधिक भ्रांति मे डाल देना, दूसरे की प्रतिष्ठा को नष्ट करने का प्रयत्न करना यह भी चोरी है।

एक व्यक्ति तपस्वी होने के कारण दुर्वल है और दूसरा व्यक्ति रोगी एव दुराचारी होने के कारण दुर्वल है। दुर्वल दोनो हैं। ऐसी दशा मे अपनी रोग-जन्य एव वासना-जन्य दुर्वलता को

१ देखो दशवैकालिक सूत्र का ५ अ०, २ उ०, गा० ४८-४९।

'तपस्वी' परायणता-जन्य दुर्वलता वताना तप-चोरी है। अथवा एक साधु शरीर से दुर्वल है और दूसरा तपस्वी साधु तप-परायणता के कारण दुर्वल है, ऐसी दशा मे किसी ने भ्रम से दुर्वल साधु से पूछा क्या महातपस्वी आप ही हैं ? तव माया की भाषा मे उत्तर देना, या मौन रहना, जिस से कि दूसरे की मिथ्याधारणा वढे, यह भी चोरी का ही एक रूप है।

एक ही नाम के दो व्यक्ति है, एक प्रसिद्ध वक्ता है दूसरा साधारण है। पूछने वाले ने पूछा "क्या प्रसिद्ध वक्ता या व्याख्यान वाचस्पति आप ही है ?" यदि साधारण सत इसके उत्तर मे कपट की भाषा मे वोलता है, या मौन से उत्तर देता है। तो यह भी वचन-चोरी का ही एक रूप है। इससे माया-चारिता वढती है।

इसी तरह एक साधु, साधु वनने से पहले राजकुमार था दूसरा साधारण कुल मे जन्मा था। नाम दोनो साधुओ का एक समान है। किसी ने दूसरे से पूछा, "अमुक राजकुमार ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी तो क्या वे आप ही है ? इस का उत्तर यदि वह माया की भाषा मे देता है तो वह भी चोर है।

दो सन्तो का नाम समान है, उनमे एक का आचार विशुद्ध है, दूसरा साधारण आचार वाला है। किसी ने साधारण आचार वाले से पूछा "जो महात्मा उच्च संयमी हैं, क्या वे आप ही है ?" वह यदि माया की भाषा मे जवाव देता है या चुप रहता है तो वह आचार-चोर है।

किसी ने किसी वहुश्रुत से पूछा—"भते ! इस पाठ की आप ने क्या धारणा की है ?" ज्ञानी ने सही उत्तर दिया। पूछने वाला कहता है मेरी भी यही धारणा है, मैने तो आप से केवल परीक्षा

के लिए पूछा था, वस्तुत. उस अर्थ को वह बिल्कुल नही जानता था। इसको भाव-चोरी कहते है। इस तरह दूसरे की मान प्रतिष्ठा को लूटना भी चोरी है। ऐसी चोरी का जन्मान्तर में दुर्गतिरूप फल भोगना पडता है और साधक दुर्लभबोधि बन जाता है।

इस महाव्रत की आराधना तभी हो सकती है जबकि पांच भावनाओ का सम्यक् पालन किया जाय। वे पांच भावनाए निम्न-लिखित है.—

(क) **अवग्रहानुज्ञापना**—साधु या साध्वी को चाहिए कि किसी दूसरे के द्वारा नही, बल्कि स्वय अधिकार प्राप्त स्वामी को भली-भाति जानकर उससे रहने के लिये स्थान की याचना करनी चाहिए, अन्यथा अदत्तादान का दोष लगना सभव है।

(ख) **सीमा-परिज्ञान**—अधिकारी वर्ग से उपाश्रय की सीमा को खोलकर उसका सेवन करना चाहिए। एक बार अधिकारियो द्वारा उपाश्रय की आज्ञा प्राप्त होने पर भी, उनसे बार-बार सीमा-परिमाण खोलकर अनुमति प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, क्योकि रोग एव बुढ़ापे आदि के कारण साधु को परठने-परठाने के स्थान आदि की बार-बार आवश्यकता होती है। अदत्ता-दान दोष से बचाव के लिये अधिकारी वर्ग एवं किसी दाता को कष्ट न हो, इस भावना की रक्षा के लिये स्थान को विधिवत् खोलकर आज्ञा प्राप्त करना साधु का कर्तव्य है। अनुमति के बिना यदि भय पूर्वक, स्थान का उपयोग किया जाएगा, तो उसे चोरी ही कहना उपयुक्त होगा।

(ग) **अवग्रहानुग्रहणता**—स्थान विशेष की आज्ञा लेने के

अनन्तर वहा पर रखे हुए चौकी, पट्टा, तृणादि के ग्रहण के लिए भी आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए, नही तो बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण और सेवन मे चोरी का दोष टल नही सकता।

(घ) **आज्ञा-प्राप्त-साधर्मिकावग्रह सेवन**—उपाश्रय मे निवास कर रहे एक समाचारी वाले साधुओ से नियत क्षेत्र और काल के लिए स्थान या मकान की आज्ञा लेकर ही वहा रहना चाहिए तथा भोजन आदि करना चाहिए, नही तो चोरी के दोष से साधु अछूता नही रह सकता।

(ङ) **आज्ञा-प्राप्त भक्त-पान का सेवन**—यथाकल्प यथासूत्र प्रासुक एषणीय आहार मिल जाने पर उस आहार को उपाश्रय मे लाकर गुरु के समक्ष दिखाए बिना, आलोचना किए बिना उसका सेवन नहीं करना चाहिये। साधुओ की मडली मे बैठकर सेवन करे, धर्म-साधना रूप अन्य उपकरणो का सेवन भी गुरु की आज्ञा से ही करना चाहिए। बडो को दिखाए बिना और उनकी आज्ञा लिए बिना किसी भी वस्तु का सेवन करना चोरी है।

४ मैथुन-विरमण-महाव्रत—

देव मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी दिव्य एव औदारिक काम सेवन का तीन योग और तीन करण से सर्वथा त्याग करना "मैथुन-विरमण-महाव्रत" है। दुराचार से पूर्णतया निवृत्ति पाना ही ब्रह्मचर्य है। वासना की तृप्ति के लिये शारीरिक मिलन को मैथुन कहते हैं। मैथुन से निवृत्त होकर आत्मावस्थित होना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है—कायिक, वाचिक और मानसिक।

विकृत मन से किसी का स्पर्श नहीं करना, विपरीत लिंगी

के साथ एक आसन पर न बैठना, किसी को वासना-लोलुप दृष्टि से न देखना और विकारी वातावरण से दूर रहना कायिक ब्रह्मचर्य है।

विकारोत्पादक गीत एवं वार्तालाप आदि न सुनना, वासना वर्धक बातचीत न करना, अश्लील भाषण न करना, कामोत्तेजक पदार्थ न खाना, खाने मे संयम रखना, वाचिक ब्रह्मचर्य है। क्योंकि जिसने रसना को नही जीता, वह विषयों को नही जीत सकता। इसको अस्वाद व्रत भी कहते है। एक रसनेन्द्रिय को वश कर लेने से शेष सभी इन्द्रिया स्वय वश मे हो जाती हैं।

सदैव विचारो को पवित्र रखना, पूर्वकृत भोगो का स्मरण न करना, स्वाध्याय, ध्यान एव चिंतन में मन को लगाना आदि मानसिक ब्रह्मचर्य के रूप हैं।

काम के समान कोई व्याधि नही, मोह के समान कोई शत्रु नही, क्रोध के समान कोई आग नही, ज्ञान के समान कोई सुख नही।

काम-वासना दूसरे सब पापों के लिए और दुःखों के लिए दरवाजा खोल देती है और ब्रह्मचर्य से सभी दरवाजे बंद हो जाते हैं—पापो के भी और दुःखो के भी। प्रश्न-व्याकरण सूत्र के चौथे सवर द्वार मे ब्रह्मचर्य को सर्वोत्तम बत्तीस उपमाओं से उपमित किया गया है। ब्रह्मचर्य भगवान है और ब्रह्मचर्य रूप भगवान की आराधना पांच भावनाओ से हो सकती है। वे पांच भावनाएं निम्न-लिखित है :—

१. विविक्त - शयनासन - सेवन—सयम-परायण साधु या साध्वी को ऐसे स्थान मे बिल्कुल नही ठहरना चाहिए, जो स्थान

कामोद्दीपक चित्रो से सज्जित हो, जहां गाय, भैंस, भेड, बकरी आदि पशु रहते हो और जहा नपुंसक का निवास हो, अर्थात् जहां विपरीत लिंगी व्यक्ति रहते हो, वहा साधु को नही ठहरना चाहिये, जहा इन्द्रियो की प्रवृत्तिया एव मन की वृत्तिया उत्तेजित हो, वहा न ठहरे। वृत्तियो को अन्तर्मुखी होने मे सहयोग दे वही स्थान "विविक्त शयनासन" कहलाता है।

२. **विजातीय कथा-विवर्जन**—स्त्री के लिए पुरुष विजातीय है और पुरुष के लिए स्त्री विजातीय है। केवल विजातीयो मे कथा नही करनी, एकाकी विजातीयो की सगति कभी न करे, उनके साथ बातचीत भी अधिक न करे, यह दूसरी भावना है।

३. **विजातीय-इन्द्रियावलोकन-वर्जन**—विजातीयो के मुख-नेत्र आदि अगो को काम-राग की स्थिर दृष्टि से नही देखना चाहिये, क्योकि उन्हे देखने से सयम को हानि पहुचती है।

४. **पूर्व-क्रीडित अननुस्मरण**—गृहस्थ-अवस्था मे भोगे हुए काम-भोगो का स्मरण नहीं करना चाहिये। स्नान, विलेपन, केश-विन्यास आदि रूपों में शरीर की सजावट एव बनाव मे दत्तचित्त व्यक्ति का चित्त चचल हो जाता है उसमे विकारोत्पत्ति हो जाती है। विभूषा से भी दूर रह कर ही साधु अपने शील की रक्षा कर सकता है।

५ **प्रणीताहार-विवर्जन**—शीलवान साधक को चाहिए कि वह थोडा खाए और थोड़ा ही पीए। **"अप्पपिण्डासी पाणासी"** सरस, स्निग्ध एव पौष्टिक आहार का उपयोग न करे और प्रमाण से अधिक रूक्ष आहार भी न करे। इन पांच भावनाओ मे से यदि कोई भी एक भावना निर्बल हो जाए तो ब्रह्मचर्य जीवन से निकल जाता है।

हट जाने पर परिग्रह, परिग्रह नही रह जाता या परिग्रहरूप जड-चेतन से अलग होने पर राग-द्वेप मोह रूप ईंधन के अभाव मे लालसा की आग स्वत ही शान्त होने लगती है।

अपरिग्रह महाव्रत की भी पांच भावनाए है—उनमे से किसी एक मे भी ढील आने पर परिग्रह की भावना स्वत. ही उभर आती है। पाचो भावनाए सुदृढ हो तो अपरिग्रह महाव्रत सुरक्षित रहता है। वे भावनाए निम्न-लिखित हैं —

१. **श्रोत्रेन्द्रिय-रागोपरति**—कानों के तीन विपय हैं—जीव-शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। इन्द्रियो और मन के अनुकूल शब्दो पर या शब्दो के साधनो पर राग न रखना और प्रतिकूल शब्द और शब्द के साधनों पर द्वेष न करना, अपरिग्रह की पहली भावना है।

२ **चक्षुरिन्द्रिय-रागोपरति**—आखो का विपय है रूप। काला, पीला, नीला, लाल और सफेद, इन्ही के मेल-जोल से हजारो तरह के रग बन जाते हैं। उनमे कोई इष्ट है और कोई अनिष्ट। इष्ट रूप पर राग और अनिष्टरूप पर द्वेप न करना अपरिग्रह की दूसरी भावना है।

३. **घ्राणेन्द्रिय - रागोपरति**—सूघने वाली इन्द्रिय को घ्राणेन्द्रिय कहते हैं, इसका विषय है सुगध और दुर्गन्ध। सुगन्ध वाले पदार्थो पर आसक्ति न रखना और दुर्गन्ध वाले पदार्थो पर द्वेप न करना अपरिग्रह की तीसरी भावना है।

४. **रसनेन्द्रिय-रागोपरति**—रसना वह इन्द्रिय है जिससे तीखे कडवे कसैले, खट्टे, मीठे आदि रसो का आस्वादन होता है। रस दो तरह का होता है अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल

रसो पर आसक्त न होना और प्रतिकूल रसो पर द्वेष न करना अपरिग्रह की चौथी भावना है।

५ स्पर्शनेन्द्रिय-रागोपरति—जिस इन्द्रिय मे कर्कश, सुकोमल, हल्का, भारी, शीत, उष्ण, रूक्ष स्निग्ध आदि का ज्ञान हो, वह स्पर्शनेन्द्रिय है। हृदयानुकूल स्पर्श से राग की निवृत्ति और हृदय-प्रतिकूल स्पर्श से द्वेष की निवृत्ति का होना अपरिग्रह है।

इन्द्रियो के इष्ट पाचो विषयो और उनके साधनो मे सभी प्रकार के परिग्रह का समावेश हो जाता है। उन पर राग-द्वेष न करना ही अपरिग्रह है। किसी इन्द्रिय-पोषक पदार्थ से ममत्व का त्याग न करना राग है, राग से निवृत्ति पाना ही अपरिग्रह है। द्वेप राग का ही सहचारी है। जहा राग है, वहा द्वेप भी है, राग की निवृत्ति होने से द्वेष भी स्वयः निवृत्त हो जाता है। राग और द्वेप दोनो मोह की प्रकृतिया है। दोनो का साहचर्य अनादि काल से चला आ रहा है। द्वेप नौवे गुणस्थान मे क्षय हो जाता है, जबकि राग दसवें गुण स्थान तक रहता है। इससे प्रमाणित होता है कि जो वीतराग हो गया है, वह निश्चय ही वीत-द्वेष भी है। राग से उपराम या निवर्तन ही द्वेपोपराम है।

६. रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत—

रात्रि मे—सूर्य उदय होने से पहले या सूर्य अस्त होने के बाद '**असणं पाणं खाइमं साइमं**' चार प्रकार का आहार जीवन भर के लिए ग्रहण न करना, सेवन न करना, रात्रि भोजन करने का किसी को आदेश न देना और न रात्रि-भोजन करने वाले का समर्थन करना, न ही रात्रि-भोजन का उपदेश देना, साधु का कर्तव्य है। रात्रि-भोजन परित्याग भी तीन योग और तीन करण

५ परिग्रह-विरमण महाव्रत—

परिग्रह दो प्रकार का है—द्रव्य-परिग्रह और भाव-परिग्रह। ममत्व का कारण होने से सभी वाह्य पदार्थों का संग्रह द्रव्य-परिग्रह है। पदार्थों पर ममत्व का होना भाव-परिग्रह है। द्रव्य-परिग्रह और भाव-परिग्रह दोनो के त्याग से साधक अपरिग्रही बन सकता है। इन दोनो मे भाव परिग्रह की मुख्यता है. उसके निवृत्त होने पर साधक शरीर एव धर्मोपकरण रखता हुआ उन्हे धारण करता हुआ भी अपरिग्रही माना जाता है।

नौ प्रकार का वाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार का आभ्यन्तर परिग्रह होता है। जैसे कि—खेत, मकान, दुकान आदि वस्तु सोना, चादी, मणि-रत्न, नौकर-चाकर, पशुधन, धन-धान्य, पीतल, ताम्बा, लोहा आदि धातुओ का सचय बाह्य परिग्रह है। ये सव पदार्थ ममत्व के कारण हैं, इनके लिए मानव इधर-उधर दौड धूप करता है। साधना-शील व्यक्ति इनको जीवन के लिये साधन मानता है और परिग्रह-प्रिय व्यक्ति उनके लिये जीवन मानता है। दोनो मे यही अन्तर है। जड और चेतन, कनक और कामिनी, स्वजन और परिजन, यान-वाहन, दास-दासी, गाय, भैंस आदि सव परिग्रह के अग है। इन्हे पाने की इच्छा रखना, इनके संग्रह के लिये यत्नशील रहना, सगृहीत पदार्थों पर ममत्व रखना, इस प्रकार सासारिक पदार्थों सम्बन्धी इच्छा, सग्रह और मूर्छा-ममता ये सव परिग्रह के ही रूप हैं। ममत्व के हट जाने पर इच्छा और सग्रह की निवृत्ति स्वत ही हो जाती है।

आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह रूप हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मिथ्यात्व, वेद, अरति, रति, हास्य, शोक, भय और जुगुप्सा अर्थात् घृणा ये सब आभ्यन्तर परिग्रह के रूप हैं।

वस्तु चाहे सख्या मे स्वल्प है या बहुत, कीमत मे या परिमाण में वह अणु हो या स्थूल, सचित्त हो या अचित्त, उस पर से ममत्व को हटाना विचारो मे भी ममत्व को न आने देना, आभ्यन्तरिक अपरिग्रह है। मन, वचन और काया से किसी भी प्रकार का परिग्रह न स्वय रखना न दूसरो से रखवाना और परिग्रह रखने वालो का समर्थन भी न करना अपरिग्रह-व्रती का कर्तव्य बताया गया है।

जैसे ओस की बूदो से कुआ नही भरता, वैसे ही लोभी और लालची का मन दुनिया की चीजो से नही भरता। गृहस्थो के लिए परिग्रह चाहे भूषण रूप हो, किन्तु साधुओ के लिए वह दूषण है। अनासक्ति की सच्ची परीक्षा—हानि, कष्ट, त्याग, अपमान के समय या अपनो के वियोग के समय ही होती है। ममत्व और अनासक्ति के झगडे मे ससारी जीवो का ममत्व ही जीतता है। इससे दुनिया-दारी और अभिमान खुश हो जाते है, किन्तु मोहान्ध व्यक्ति अपने को गड्ढे मे गिरा हुआ पाता है, और जब साधक की अनासक्ति विजयी होती है, तब आत्मा की प्रफुल्लता, एव आध्यात्मिक मस्ती बढती है। भारतीय सस्कृति मे सदा त्याग, आत्म-विजय, आत्मानुशासन और प्रेम की अविच्छिन्न धाराए बही है, इस सस्कृति के उपासको ने जब भोग मे सुख नही देखा, तब त्याग के मार्ग को अपनाया, जब दूसरे जीते नही गए तब अपनी ओर ध्यान खीचा, उनमे आत्म-विजय की सूझ-बूझ जागी, जब हकूमत बुराइयां नही मिटा सकी, तब आत्मानुशासन का ध्यान आया, जब आग से आग अर्थात् द्वेष से द्वेष शात नही हुआ, तब प्रेम से द्वेष की आग बुझाने की रीति अपनाई।

परिग्रह राग-द्वेष का मूल कारण है। राग-द्वेष और मोह के

हट जाने पर परिग्रह, परिग्रह नही रह जाता या परिग्रहरूप जड-चेतन से अलग होने पर राग-द्वेष मोह रूप ईंधन के अभाव मे लालसा की आग स्वत ही शान्त होने लगती है।

अपरिग्रह महाव्रत की भी पाच भावनाए है—उनमे से किसी एक मे भी ढील आने पर परिग्रह की भावना स्वत. ही उभर आती है। पाचो भावनाए सुदृढ हो तो अपरिग्रह महाव्रत सुरक्षित रहता है। वे भावनाए निम्न-लिखित है —

१. श्रोत्रेन्द्रिय-रागोपरति—कानो के तीन विषय है—जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। इन्द्रियो और मन के अनुकूल शब्दो पर या शब्दो के साधनों पर राग न रखना और प्रतिकूल शब्द और शब्द के साधनों पर द्वेष न करना, अपरिग्रह की पहली भावना है।

२ चक्षुरिन्द्रिय-रागोपरति—आखो का विषय है रूप। काला, पीला, नीला, लाल और सफेद, इन्ही के मेल-जोल से हजारो तरह के रग बन जाते हैं। उनमे कोई इष्ट है और कोई अनिष्ट। इष्ट रूप पर राग और अनिष्टरूप पर द्वेष न करना अपरिग्रह की दूसरी भावना है।

३. घ्राणेन्द्रिय - रागोपरति—सूघने वाली इन्द्रिय को घ्राणेन्द्रिय कहते हैं, इसका विषय है सुगध और दुर्गन्ध। सुगन्ध वाले पदार्थो पर आसक्ति न रखना और दुर्गन्ध वाले पदार्थो पर द्वेष न करना अपरिग्रह की तीसरी भावना है।

४ रसनेन्द्रिय-रागोपरति—रसना वह इन्द्रिय है जिससे तीखे, कडवे कसैले, खट्टे, मीठे आदि रसो का आस्वादन होता है। रस दो तरह का होता है अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल

रसो पर आसक्त न होना और प्रतिकूल रसो पर द्वेष न करना अपरिग्रह की चौथी भावना है।

५ स्पर्शनेन्द्रिय-रागोपरति—जिस इन्द्रिय से कर्कश, सुकोमल, हल्का, भारी, शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध आदि का ज्ञान हो, वह स्पर्शनेन्द्रिय है। हृदयानुकूल स्पर्श से राग की निवृत्ति और हृदय-प्रतिकूल स्पर्श से द्वेष की निवृत्ति का होना अपरिग्रह है।

इन्द्रियो के इष्ट पाचो विषयो और उनके साधनो मे सभी प्रकार के परिग्रह का समावेश हो जाता है। उन पर राग-द्वेष न करना ही अपरिग्रह है। किसी इन्द्रिय-पोषक पदार्थ से ममत्व का त्याग न करना राग है, राग से निवृत्ति पाना ही अपरिग्रह है। द्वेष राग का ही सहचारी है। जहा राग है, वहां द्वेष भी है, राग की निवृत्ति होने से द्वेष भी स्वय निवृत्त हो जाता है। राग और द्वेष दोनो मोह की प्रकृतिया है। दोनो का साहचर्य अनादि काल से चला आ रहा है। द्वेष नौवे गुणस्थान मे क्षय हो जाता है, जबकि राग दसवे गुण स्थान तक रहता है। इससे प्रमाणित होता है कि जो वीतराग हो गया है, वह निश्चय ही वीत-द्वेष भी है। राग से उपराम या निवर्तन ही द्वेपोपराम है।

६. रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत—

रात्रि मे—सूर्य उदय होने से पहले या सूर्य अस्त होने के बाद "असण पाण खाइम साइम" चार प्रकार का आहार जीवन भर के लिए ग्रहण न करना, सेवन न करना, रात्रि भोजन करने का किसी को आदेश न देना और न रात्रि-भोजन करने वाले का समर्थन करना, न ही रात्रि-भोजन का उपदेश देना, साधु का कर्तव्य है। रात्रि-भोजन परित्याग भी तीन योग और तीन करण

से होता है। यह व्रत मूलगुण रूप पाच महाव्रतो और तपस्या आदि उत्तरगुण दोनो का स्पर्श करता है। यह व्रत अहिसा आदि सभी महाव्रतो का पूरक एव पोपक है।

रात्रि-भोजन-परित्याग से होने वाले लाभ—

कोई भी व्यक्ति किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही प्रवृत्ति और निवृत्ति करता है। रात्रि भोजन से निवृत्ति होने पर साधक को किन-किन गुणो की प्राप्ति होती है ? यह विचारणीय प्रश्न है। विचारशील मुनीश्वरो का कथन है कि रात को यदि आहार न किया जाए तो अनन्त जीवो को अभयदान मिलता है। जो सूक्ष्म जन्तु रात को नजर नही आते, उनकी रक्षा रात्रि मे भोजन एवं पान के त्याग से स्वय ही हो जाती है। रात्रि-भोजन के त्याग का सभी तीर्थङ्करो ने एक स्वर से समर्थन किया है।

रात्रि भोजन के त्याग से नित्य ही तप का लाभ होता है, क्योकि इससे तीस अहोरात्र मे से पन्द्रह दिन का तप हो जाता है और कहा भी जाता है कि जो बुद्धिमान व्यक्ति रात्रि-भोजन कभी नही करते, उनका एक पक्ष का उपवास भी मासोपवास का फल देता है[1]। अहिसा महाव्रत की रक्षा भी हो जाती है। खाने-पीने की कोई भी वस्तु रात को अपने पास नही रखना, इससे अ[illegible] व्रत भी निर्दोष रहता है और अहिसा भी। जैनेतर सस्कृतियों मे भी रात्रि-भोजन का निपेध किया गया है—रात्रि मे हवन करना, स्नान करना, श्राद्ध करना, देव-पूजन करना और दान देना ता-

१ ये रात्रौ सर्वदाऽऽहार, वर्जयन्ति सुमेधस ।
तेपा पक्षोपवासस्य, फलमासे न जायते ॥

निषिद्ध है ही, भोजन तो विशेषकर वर्जित है।[1]

रात्रि-भोजन से हानियां—

रात को भोजन करते समय यदि कीडी खाने मे आ जाए तो बुद्धि का नाश होता है, जू खाए जाने पर जलोदर रोग हो जाता है, मक्खी खाने पर उल्टी आ जाती है, मकडी खाने पर कोढ पैदा हो जाता है, काटा या डका खाने मे आ जाए तो गले मे पीडा हो जाती है, मच्छर खाने मे आ जाए तो सन्निपात का रोग हो जाता है, बिच्छू का भक्षण तालु मे घाव कर देता है और यदि बाल गले मे फंस जाए तो कठ का माधुर्य समाप्त हो जाता है, क्योकि रात्रि मे ऐसे जीवो की हिंसा बहुतायत से होती है और रात्रि के समय भोजन मे ऐसे जीवो के पड जाने की सम्भावना भी अधिक रहती है, अत. रात्रि-भोजन शरीर के लिए अत्यन्त हानिकारक है।[2]

रात्रि-भोजन अनेक दृष्टियो से हानिप्रद है। रात्रि-भोजन अधा खाना है। इसकी निवृत्ति से मूलगुण और उत्तरगुण दोनो की पुष्टि होती है। अत. यह व्रत भी चारित्र का ही अग है।

जब तेईसवे तीर्थङ्कर के साधु-साध्वी चौबीसवे तीर्थङ्कर के शासन मे प्रवेश करते हैं, तब निरतिचार छेदोपस्थापनीय

१ नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्ध देवतार्चनम्।
दान न विहित रात्रौ, भोजन तु विशेषत ॥

२. मेधा पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरं।
कुरुते मक्षिका वांति कुष्ठ-रोग च लूतिका ॥
कटको दारुखण्ड च, वितनोति गले व्यथा।
मशक: सन्निपातं च, तालु विध्यति वृश्चिक: ॥ (योगशास्त्र)

चारित्र दिया जाता है। इससे विपरीत मूलगुणो को दूषित करने वाले सर्वविरति साधक को सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है।

परिहार-विशुद्धि चारित्र—परिहार का अर्थ है विशिष्ट तप, जिस तपोमयी अवस्था मे रहकर साधक विशिष्ट तप द्वारा चारित्र की विशुद्धि करता है, अथवा जिसमे अनेषणीय आहार आदि का विशेष रूप से त्याग किया जाता है, वह 'परिहार-विशुद्धि चारित्र' है। इसका अस्तित्व पहले और चौबीसवे तीर्थङ्करो के शासन-काल मे ही पाया जाता है। जिसने पहले कभी परिहार-विशुद्धि-चारित्र अगीकार किया हो, उस साधु के सान्निध्य मे इस चारित्र को धारण किया जाता है। नव साधुओ का एक गण बनता है, वह गण परिहार-तप अगीकार करता है। वे तपस्वी साधु तीन भागो मे बट जाते हैं, जैसे कि पारिहारिक, आनुपारिहारिक और कल्पस्थित गुरु। जो चार साधु पहले छः महीने तप करते है, वे पारिहारिक, उनकी सेवा मे रहने वाले चार साधु आनुपारिहारिक कहलाते है, जिसकी आज्ञा एवं साक्षी से, आलोचना वन्दना पच्चक्खाण, स्वाध्याय आदि अनुष्ठान किए जाते है, वह कल्प-स्थित गुरु कहलाता है।

पारिहारिक साधु ग्रीष्म ऋतु मे जघन्य एक उपवास, मध्यम बेला, उत्कृष्ट तेला तप करते हैं। शीतकाल मे जघन्य बेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट चौला तप करते है। वर्षा काल में जघन्य तेला, मध्यम चौला और उत्कृष्ट पचौला तप करते है। छः मास पूर्ण होने के अनन्तर ही पारिहारिक आनुपारिहारिक बन जाते है और आनुपारिहारिक पारिहारिक बन जाते हैं। बारह मास बीत जाने पर कल्पस्थित गुरु पारिहारिक बन जाता

है, शेष आठ मे से एक कल्पस्थित गुरु और सात साधु आनुपारिहारिक बन जाते हैं। इस क्रम से परिहार-विशुद्धि-चारित्र की आराधना मे कुल अठारह मास लगते है। परिहार-तप पूर्ण होने पर उनकी तीन गतिया होती हैं, उसी तप को वे पुन भी धारण कर लेते है, जिन-कल्पी भी बन जाते है, और पुन. वापिस उस गच्छ मे भी सम्मिलित हो जाते है, जिस गण से वह निकला होता है।

सूक्ष्म-संपराय—सम्पराय का अर्थ है कषाय। जिस चारित्र मे सज्वलन लोभ का उदय सूक्ष्म रूप से होता है, वह सूक्ष्म-सम्पराय-चारित्र कहलाता है। इस चारित्र का सद्भाव दसवे गुणस्थान मे होता है। इसके दो रूप है—विशुध्यमान-सूक्ष्म-संपराय और संक्लिश्यमान-सूक्ष्म-सपराय। क्षपक श्रेणि या उपशम श्रेणि में आरोहण करने वाले साधु के भाव उत्तरोत्तर विशुध्यमान होते जाते हैं, अत. उसका चारित्र विशुध्यमान-सूक्ष्म-सम्पराय होता है। जब कोई साधक किसी श्रेणि से नीचे अवतरण करता है तब दसवे गुणस्थान मे उसका चारित्र सक्लिश्यमान सूक्ष्म सपराय होता है। इसमे वर्धमान या हीयमान परिणाम होते है, अवस्थित नही। दोनों अवस्थाओ में साकारोपयोग होता है।

यथाख्यात-चारित्र—जिस साधु के परिणाम अतिविशुद्ध हों अथवा जिसमे मोह की सभी प्रकृतिया उपशम हो गई हो या सर्वथा प्रक्षीण हो गई हो, उसका चारित्र यथाख्यात-चारित्र होता है। इस चारित्र मे शुक्लध्यान एव वीतरागता की अभिव्यक्ति होती है। इसके भी दो रूप है—छाद्मस्थिक वीतरागता और और केवली वीतरागता। ग्यारहवे और बारहवे गुण स्थान मे छाद्मस्थिक वीतरागता होती है। तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे केवली वीतरागता होती है। इस तरह यथाख्यात-चारित्र

अन्तिम के चार गुणस्थानों में पाया जाता है। छठे से दसवें गुणस्थान तक 'सराग-संयम' होता है, 'वीतराग-संयम' नहीं।

सामायिक चारित्र सभी चारित्रों की आधार-भूमि है। इसके बिना छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं, छेदोपस्थापनीय के बिना परिहार-विशुद्धि-चारित्र नहीं। सामायिक-चारित्र के बिना सूक्ष्म-संपराय-चारित्र नहीं, सूक्ष्म-संपराय-चारित्र के बिना यथाख्यात-चारित्र नहीं। आदि के दो चारित्रों के द्वारा साधक के शुद्ध परिणाम-भाव नौवें गुणस्थान तक का स्पर्श कर सकते हैं। तीसरे चारित्र के माध्यम से साधक के विशुद्ध परिणाम अधिक से अधिक सातवें गुणस्थान तक गति कर सकते हैं। क्षपक-श्रेणि या उपशम श्रेणि की रचना परिहार-विशुद्धि चारित्र में नहीं होती। पहले के दो चारित्रों में रहते हुए साधक श्रेणी की रचना कर सकता है। चौथा चारित्र तो केवल दसवें गुणस्थान में ही पाया जाता है, अन्य गुणस्थानों में नहीं। जहां कथनी और करणी एक समान हो, वह यथाख्यात-चारित्र है। इसमें वर्तमान साधक जैसे कहता है, वैसे ही करता है। जब उसकी अन्तर्मुखी वृत्तियां अपने आप में पूर्ण हो जाती हैं, तब उस निष्प्रकंप अवस्था का नाम ही यथाख्यात-चारित्र है। इसका अस्तित्व वीतरागता में पाया जाता है। आत्मा की पूर्णतया निष्प्रकंप अवस्था इस अयोगि-केवलि-गुणस्थान में होती है, जहां से सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। मूलगुण-प्रत्याख्यान सभी चारित्रों में अनुस्यूत रहता है।

अणुव्रत—

महाव्रतों की तरह अणुव्रत भी मूलगुण-प्रत्याख्यान है। महाव्रतों की अपेक्षा जो व्रत छोटे हों उन्हें अणुव्रत कहते हैं, जिन

से जीवन लोक-व्यवहार में प्रामाणिक बन जाए, हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार एव तृष्णा का अस्तित्व जिसमें न हो, जिसमें सूक्ष्म पापों से तो नही, मोटे पापो से बचाव हो, उसे भी 'मूलगुण पच्चक्खान कहा जाता है।

१. **स्थूल-प्राणातिपात का पच्चक्खाण**—सकल्प-पूर्वक किसी निरपराधी को मारना, उसे तंग करना और विपत्ति मे डालना मोटी हिंसा है। उसका त्याग करना, "स्थूल प्राणातिपात-विरमण व्रत" है।

२. **स्थूल-मृषावाद का पच्चक्खाण**—किसी की धरोहर न दबाना, झूठी गवाही न देना, किसी कन्या या पशु के निमित्त कभी झूठ न बोलना, दूसरा अणुव्रत है।

३. **स्थूल-अदत्तादान का पच्चक्खाण**—किसी की निधि को खोद कर निकालना, गाठ खोलकर वस्तु निकाल लेना, जेब काटना, बिना आज्ञा के चाबी लगाकर ताला खोलना, मार्ग मे चलते हुए को लूटना, स्वामी का पता होते हुए भी पड़ी हुई किसी वस्तु को उठा लेना, स्थूल चोरी है। उसका त्याग करना "मूलगुण-पच्चक्खाण" है।

४. **स्वदार-संतोषित-व्रत**—जिसके साथ विवाह हुआ है। उसी स्त्री पर सन्तोष करना, परस्त्री-गमन, वेश्या-गमन आदि दुराचारो का त्याग करना एव अल्प सन्तान की कामना रख कर पुण्य-दिवसो को छोडकर उदित-वेद-शमन में प्रवृत्त होना—आदि इस व्रत के ही अनेक रूप है।

५. **इच्छा-परिमाण-व्रत**—अनावश्यक जड़-चेतन पदार्थो का, धन-धान्य का, सोना-चादी का, नौकर-चाकर रखने का और

गाय-भैस, घोडा-ऊट आदि पशु रखने का, खेत, मकान, दुकान आदि रखने की सीमा का बन्धन करना इच्छा-परिमाण व्रत है। गृहस्थ आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही उक्त पदार्थो की मर्यादा करता है, इच्छाओ को सीमित करता है, अन्याय-अनीति-अत्याचार से द्रव्य का उपार्जन नही करता, धर्म से आजीविका कमाता है, रिश्वत नही लेता, काला धन नही कमाता, यही उसका इच्छा-परिमाण-व्रत है। अहिंसक, जबान का सच्चा, हाथ का सुच्चा, और लंगोट का पक्का होता है। उपर्युक्त गुणो को धारण कर और सतोष तथा उदारता से धर्म-दान देना जीवन-उत्थान का मूल मन्त्र है। मूलगुणो से मानव सर्व-पूज्य बन जाता है।

२४. उत्तरगुण-प्रत्याख्यान

जिस त्याग से उत्तर गुणो की वृद्धि हो, जो त्याग मूल-गुणो का पोषक, रक्षक एवं सवर्धक हो, वह उत्तरगुण-पच्चक्खाण कहलाता है। जैसे, खेती के बिना बाड़ की सार्थकता नही होती, उसकी सार्थकता खेती के होने पर ही है। जैसे धन के बिना तिजौरी निरर्थक है, जब वह धन की रक्षा करती है तभी उसकी सार्थकता है। जैसे अन्दर-बाहर दृढ पलस्तर लगाने से मकान की रक्षा भी होती है और उस की सुन्दरता भी बढ जाती है, जैसे ग्रीष्म काल मे जल-घट को ठण्डे वातावरण मे रखने से कुछ देर के बाद जल स्वय ही ठण्डा हो जाता है, वैसे ही मूलगुणो का पोषण, रक्षण एव सवर्धन उत्तरगुणो से होता है। उत्तरगुण तपविशेष है, सयम की शोभा तप से है और तप की शोभा सयम से है। सयम के बिना तप बाल-तप है। तप के बिना सयम सुरक्षित नही रह सकता। सयम साधु-जीवन का अभिन्न अङ्ग है, उसके बिना साधु साधु ही नही रह जाता, किन्तु तप यथाशक्ति देश और काल की सीमा बाध कर किया जाता है। जीवन भर के लिये साधना मे सलग्न रहना ही सयम है, कभी कभी विशेष विधि से जप, ध्यान और स्वाध्याय करना और खाने-पीने का त्याग करना तप है। सयम को मूलगुण कहते है और तप को उत्तर-गुण कहा जाता है। सयम आती हुई बुराई को रोकता है और तप के

द्वारा पूर्वकृत कर्मों का क्षय किया जाता है। सब प्रकार की इच्छाओं का निरोध और खान-पान में सन्तोष एव नियमितता रखना तप है। बडो की इच्छा एवं आज्ञा के अनुसार चलना विनय है और अपनी इच्छा का निरोध करना संतोष है। सन्तोष एव शान्ति ही सबसे बड़ा तप है। यद्यपि आगमो मे बाह्य तप के छः भेद वर्णित हैं, तथापि इस प्रसंग मे उनका विवरण नई रीति एवं नई शैली से किया गया है, संख्या भी उनकी दस बतलाई गई है। अत. उन्हे दशविध पच्चक्खाण भी कहते है जैसे कि —

१. अनागत प्रत्याख्यान—भविष्य मे किए जाने वाले तप को पहले ही कर लेना अनागत तप है, अर्थात् महीना, तिथि, वार, नक्षत्र या पर्व के दिन यदि किसी साधु ने उपवास, आयम्बिल, वेला, तेलादि विशिष्ट तप करने की प्रतिज्ञा कर रखी हो, यदि वह कारण वश उस तप की आराधना पहले ही कर लेता है तो उसे अनागत तप कहते हैं। जैसे कि किसी तपशील साधक की आचार्य, तपस्वी, ग्लान आदि की सेवा करने के लिये नियुक्ति होने वाली है. तो वह यह समझ कर कि तपस्या और सेवा एक साथ होनी कठिन हैं, अत. वह उस तपस्या की आराधना समय आने से पूर्व ही कर लेता है और बाद में निश्चिन्त होकर सेवा मे सलग्न हो जाता है। तप की इस विधि को अनागत कहा जाता है।

२. अतिक्रान्त-प्रत्याख्यान—नियत किये हुए उपर्युक्त महीनो और दिनो मे आपवादिक स्थिति उपस्थित होने पर यदि उस समय साधु तप न कर सके तो उसी तप को बाद मे यदि करे, तब उस तप-विशेष को अतिक्रान्त तप कहते हैं।

३. कोटि-सहित प्रत्याख्यान—जब एक पच्चक्खान की समाप्ति

और दूसरे पच्चक्खान का आरम्भ किया जाए, वह कोटि-सहित तप कहलाता है। जैसे कि—रत्नावली, मुक्तावली, कनकावली आदि तपो की जहा पूर्णता होती है, दूसरी बार यदि उसी तप की आराधना करनी हो तो वह वही से प्रारम्भ किया जाता है। उपवास से उस की पूर्णता होती है और उपवास से ही प्रारम्भ होता है—तपस्या की इस विधि को कोटि सहित तप कहते है।

४. **नियन्त्रित प्रत्याख्यान**—जिसने प्रत्येक मास मे, जितने दिन तप करने का समय निश्चित किया हुआ है, उसके द्वारा उसी तिथि मे उतने काल के लिए वह तप अवश्य करना नियन्त्रित तप है। जो तप अङ्गीकार किया हुआ है वह अवश्य ही करना, भले ही शरीर मे भयकर पीडा हो जाए, भले ही विहार करना पडे, या सेवा मे लीन रहना पड या अन्य कोई विघ्न-वाधा उपस्थित हो जाए, प्राणो को रहते हुए उसे न छोडना नियत्रित तप है। इसकी आराधना वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन वाले जिन-कल्पी, पूर्वधर श्रुत-केवली ही कर सकते हैं।

५. **सागार-प्रत्याख्यान**—आगार-सहित पच्चक्खाण को सागार-प्रत्याख्यान कहते हैं। किसी-किसी तप मे आगार अर्थात् अपवाद रखे जाते है। उन अपवादो मे से किसी एक के उपस्थित होने पर भी त्यागी हुई वस्तु का समय पूरा होने से पहले भी यदि वह वस्तु काम मे लेली जाए तो पच्चक्खाण-भग नही होता। **अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, महत्तरागारेणं, परिट्ठावणियागारेणं**—इत्यादि अनेक आगार तप मे रखे जाते हैं। तप की इस विधि को सागार-प्रत्याख्यान कहते है।

६ **अनागार-प्रत्याख्यान**—जिस पच्चक्खाण में किसी भी

प्रकार का आगार नही रक्खा जाता, चाहे कितनी ही विघ्न-बाधाए आए, किन्तु साधक प्रत्याख्यान को भग नही करता, उसे अनागार प्रत्याख्यान कहते हैं। अनाभोग और सहसाकार तो उसमे भी होते हैं, क्योकि विना उपयोग के अगुली आदि मुह मे पड़ जाने से यदि आगार न हो तो पच्चक्खाण के भग होने की संभावना रहती है।

७. परिमाणकृत-प्रत्याख्यान—जिस प्रत्याख्यान में दत्तियो की संख्या, कवलो की सख्या, घरो की सख्या, भिक्षा का परिमाण या भोज्य एव पेय द्रव्यो की मर्यादा की जाती है वह परिमाण-कृत-प्रत्याख्यान कहलाता है।

८. निरवशेष - प्रत्याख्यान—काल-मर्यादा रखकर चतुर्विध आहार का सर्वथा परित्याग करना, सथारा करना, किसी भी आहार या आगार की छूट न रखना निरवशेष प्रत्याख्यान कहलाता है।

९ सकेत-प्रत्याख्यान—नवकारसी, पोरसी, उपवास आदि का नियत समय पूर्ण हो जाने के वाद तपश्चर्या करने वाला साधक जब तक अशन आदि का सेवन न करे तव तक पच्चक्खाण में रहने के लिए उसे किसी तरह का सकेत कर लेना चाहिए, उसके लिए ग्रथकारो ने अनेक सकेत वतलाए हैं, जैसे कि अंगुष्ठ, मुष्ठी, ग्रथी, गृह, स्वेद, उच्छ्वास, स्तिवुक, दीपक इत्यादि अनेक तरह के संकेत हो सकते हैं। इनमे से किसी भी सकेत को मानकर खाने-पीने का पच्चक्खाण किया जा सकता है। जैसे कि—

अंगूठी - जब तक दाए हाथ की अमुक अगुली मे यह अगूठी रहेगी, तब तक खाने-पीने का पच्चक्खाण किया जाता है।

मुष्टि—मुट्ठी बद करके यह निश्चय करे कि जब तक यह मुट्ठी नही खोलूगा, तब तक मेरा खान-पान का पच्चक्खाण है।

ग्रंथि—किसी कपडे मे गाठ लगाकर मन मे निश्चय कर लेना कि जब तक गाठ नही खोलूगा, तब तक पारणा नही करूंगा, यह ग्रंथि-सकेत-पच्चक्खाण है।

गृह—मन में निश्चय कर लेना कि जब तक घर मे प्रवेश नही करूगा, तब तक तपस्या का पारणा नही करूगा।

स्वेद—मन में यह निश्चय कर लेना कि जब तक तन पर से पसीना नही सूखेगा, तब तक मेरा खान-पान का पच्चक्खाण रहेगा।

उच्छ्वास—जब तक अमुक सख्या की पूर्ति सासो से नही होगी, तब तक खाने-पीने का त्याग रखूगा।

स्तिबुक—अमुक स्थान मे पड़ी हुई पानी की बूदे जब तक सूख नही जाएगी, तब तक खाने-पीने की वस्तु का उपयोग नही करूंगा।

दीपक—जब तक यह दीपक प्रज्वलित रहेगा, तब तक मेरा पच्चक्खाण है।

दर्शन—जब तक गुरुदेव के दर्शन न करूगा, तब तक तपस्या का पारणा नही करूगा।

नित्य-नियम—जब तक अमुक मत्र का स्मरण न कर लूगा, अमुक स्तोत्र का पाठ न कर लूगा, अमुक ग्रन्थ का स्वाध्याय न कर लूगा, माला या आनुपूर्वी न पढ लूगा, तब तक खान-पान का उपभोग नही करूगा।

ग्राम—जब तक उस ग्राम मे न पहुच जाऊगा, तब तक मार्ग

में खान-पान का त्याग रखूगा।

आदेश—जब तक कोई मुझे पारणा करने के लिए नही कहेगा, तब तक पच्चक्खाण रखूंगा।

इस प्रकार अनेको सकेत हो सकते है। इन में से कोई सा भी संकेत साधक कर लिया करते हैं। इससे खाने-पीने की बेसब्री एव व्याकुलता नही बढती, नही तो साधक स्वय वस्तु के यथा-समय न मिलने से व्याकुल हो सकता है, या गुस्से मे आकर यथासमय वस्तु न मिलने पर दूसरो को भी व्याकुल कर सकता है। अत पारणे वाले दिन भी सबर एव सतोष से समय-यापन करे, यही सकेत प्रत्याख्यान का उद्देश्य है।

१० **अद्धा-प्रत्याख्यान**—काल को लक्ष्य मे रखकर पच्च-क्खाण करना अद्धा प्रत्याख्यान है। इसके भी अनेक भेद हैं, उनके नाम और विवेचन इस प्रकार है :—

(अ) **नमस्कार-सहित**—सूर्य के उदय-काल से लेकर दो घडी तक अर्थात् मुहूर्त भर के लिए नमस्कार मत्र पढे बिना आहार ग्रहण नही करना। इसी का अपर नाम नवकारिसी भी है, जिस के अन्त मे नमस्कार मत्र का उच्चारण किया जाता है वह नवकारिसी है।

(आ) **पौरुषी**—सूर्य के उदय-काल से लेकर एक पहर दिन चढे तक सभी प्रकार के आहार का त्याग करना पौरुषी प्रत्या-ख्यान कहलाता है। पुरुष को छाया प्रात घटते-घटते जब अपने शरीर प्रमाण रह जाती है, तब उसे पौरुषी कहते है। पौरुषी तप भी यथाशक्य करना चाहिए।

(इ) **पूर्वार्ध**—प्राकृत भाषा मे इसे पुरिमड्ढ कहते हैं। दिन के चार पहर होते हैं। दो पहर की पूर्णता सदैव साढे बारह बजे होती है। इसी को दिन का पूर्वार्ध भी कहते हैं। दो पहर तक सभी प्रकार के आहार का त्याग करना पूर्वार्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

(ई) **एकाशना**—दिन में एक बार भोजन करना। इस तप मे कम से कम पौरुषी के बाद ही एक बार भोजन करने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। एकाशना मे या बियासना मे साधक भोजन करते समय अशन-पान, खादिम, स्वदिम आदि चारो प्रकार का आहार कर सकता है। उसके बाद सभी तरह के आहार का त्याग करना होता है।

(उ) **एक-स्थान**—इसका भावार्थ है दिन मे एक ही आसन से और एक ही बार भोजन करना। दाहिने हाथ एव मुख के अलावा शेष सब अगो को हिलाए बिना ही भोजन करना, वह भी एक ही बार। भोजन करते समय जिस अग-विन्यास से बैठा है उसी आसन से बैठना और पानी भी उसी आसन से बैठे हुए पीना एक-स्थान-तप है।

एकाशना मे भोजन करते समय सुन्न पड जाने से हाथ-पैर आदि अगो को बैठे बैठे सिकोडना-पसारना, शरीर का आगे-पीछे हिलाना-डुलाना किया जा सकता है, जब कि एक स्थान मे ये सब क्रियाए बद करके काय-गुप्ति के साथ भोजन करना पडता है। यह तप करना भी कोई साधारण काम नहीं है।

(ऊ) **आचाम्ल**—आयबिल मे दूध, दही, घी, तेल, गुड, शक्कर, खाड, पक्वान्न आदि किसी भी तरह का स्वादु भोजन

नही किया जाता है, दिन मे एक ही वार रूक्ष, नीरस भोजन करना होता है। रूखा फुनका या सत्तू या एक जाति के भुन्ने दाने इनमे से किसी एक के द्वारा आयंबिल करने का विधान है। एकाशना और एक स्थान तप की अपेक्षा आयंबिल तप का विशेष महत्त्व है। यह तप जितेन्द्रिय बनने का पाठ सिखाता है। यह रसनेन्द्रिय को संयम की ओर ले जाने वाला तप है। खाने के लिए बैठ कर भी मन पसन्द आहार न करना महान् तप है।

(ए) उपवास—जिस तप में साधक खान-पानादि का त्याग करके आत्म-अवस्थित होने का प्रयास करता है, उसे उपवास कहते हैं। इसके दो भेद हैं—चतुर्विध आहार का त्याग और त्रिविध आहार का त्याग। उपवास दोनो मे से कोई भी हो, उस से सयम की पुष्टि होनी चाहिये, कपायों की मदता हो, मन निर्विकार हो जाए, तभी वह उपवास कहा जाता है। उपवास मे मंगल-भावना का होना अवश्यंभावी है। सूर्योदय से लेकर सूर्योदय होने तक चौवीस घटे के लिए उपवास किया जाता है। इसकी दूसरी सज्ञा चतुर्थ-भक्त भी है।

(ऐ) चरम—अन्तिम भाग को चरम कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है। दिवस का अन्तिम भाग और आयु का अन्तिम भाग, जिसे दूसरे शब्दो में भव चरम भी कहते हैं। कम से कम दो घडी दिन रहते ही आहार-पानी से निवृत्त हो कर चरम प्रत्याख्यान कर लेना चाहिए। जव साधक को यह निश्चय हो जाए कि मेरी आयु अव थोडी ही रह गई है, अत परलोक के सुधार के लिये अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना की आराधना विधिपूर्वक कर लेनी चाहिए। जीवन भर के लिए चउविहार या तिविहार का त्याग करना चरम-प्रत्यख्यान कहलाता है।

तिविहार मे पानी का ग्रहण दिन मे ही किया जा सकता है।

(क) अभिग्रह-प्रत्याख्यान—उपवास आदि तप करने के बाद या विना उपवास के अपने मन में पहले निश्चय कर लेना कि अमुक प्रकार का सयोग मिलने पर या अमुक वस्तु प्राप्त होने पर, अमुक क्षेत्र—स्थान, काल, प्रहर आदि एव किसी भाव-विशेष के होने पर ही आहार ग्रहण करूंगा, इसे अभिग्रह कहा जाता है। इसकी अधिक से अधिक छ महीने की अवधि होती है। नियत समय से पहले अभिग्रह फलित हो जाने पर पहले भी पारणा किया जा सकता है और नियत समय पूर्ण होने पर तो पारणा हो ही सकता है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि अभिग्रह-पूर्ति से पहले अभिग्रह को किसी के आगे प्रकट नही किया जाता।

(ख) निर्विकृतिक प्रत्याख्यान—जो पदार्थ मन में विकार उत्पन्न करने वाले है, ऐसे भोज्य पदार्थों को विकृतिक कहते है। विकृतिक मे दूध, दही, घी, तेल, मक्खन, मधु, गुड, मिष्ठान्न आदि सभी का समावेश हो जाता है। शरीर-यात्रा के लिए आहार तो ग्रहण करना ही होता है, अतः भोजन मे सात्विकता का होना जरूरी है। जैसे किसी रुग्ण को ऐसी खुराक दी जाती है जिससे उसका जीवन-निर्वाह भी हो जाए और रोग भी न बढे, वैसे ही साधक को ऐसा आहार करना चाहिए जिससे वासना भी न उभरे और जीवन-निर्वाह भी हो जाए। इस तरह की तप-विधि का पालन करने से और विकृति-जनक पदार्थों का त्याग करने से तप स्वयं ही हो जाता है।

इस तरह की जानेवाली तपस्या से सयम की पुष्टि होती है। श्रद्धा एवं विनय-भक्ति से सयम की आराधना करना ही धर्म-

साधना है। धर्म-साधना ही परमात्म-तत्व को पाने का उपाय है। अहिंसा और सयम की आराधना आन्तरिक आचरण है, तप बाह्य आचरण है। जैसे ग्रीष्म काल मे पीने को शीत जल मिले और रहने के लिए ठडी जगह मिले तब शरीर पर गर्मी का प्रभाव नही पडता, वैसे ही आन्तरिक आचरण और बाह्य आचरण दोनो से आध्यात्मिक समाधि प्राप्त होती है, आते हुए कर्मों का निरोध होता है और पूर्वबद्ध कर्मों का प्रक्षय होता है।

गृहस्थ के उत्तर गुण सात है तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। पाच अणुव्रतो की रक्षा तीन गुणव्रत करते हैं और गुणव्रतो की रक्षा चार शिक्षाव्रत करते है। मूलगुणो के निकटतम गुणव्रत है। उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१ **दिशा-परिमाण-व्रत**—मनुष्य की दौड सब ओर हो सकती है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे छहो दिशाओ में मनुष्य चलता है, अत छ दिशाओ की सीमा बाधना अणुव्रती के लिए अनिवार्य है। ऐसा करने से मर्यादित क्षेत्र से बाहर गमन-आगमन करने का, कारोबार करने का, माल मगवाने या भेजने का स्वय निषेध हो जाता है। सीमित क्षेत्र से बाहर जाने की इच्छा स्वय निरुद्ध हो जाती है।

२ **उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत**—किसी वस्तु का एक बार ही उपयोग मे लाना उपभोग है और किसी वस्तु का बारम्बार काम मे या उपभोग मे लाना परिभोग कहलाता है। दोनो तरह की वस्तुओ का परिमाण अर्थात् मर्यादा करनी अणुव्रती के लिए अत्यावश्यक है। इसमे स्नान-मजन के साधनो का, खान-पान के पदार्थों का, स्वदेशी-विदेशी वस्तुओ का, पहनने और बिस्तरे के

काम में आने वाले ऊनी-सूती वस्त्रो का, फल-फूलो का, पानी की किस्मो का और चौबीस प्रकार के धान्यो का परिमाण करने पर ही अणुव्रतो का विकास हो सकता है।

परिमाणकृत पदार्थों की प्राप्ति उद्योग-धधो से ही हो सकती है। उद्योग-धन्धे दो तरह के होते है। आर्यविधि से किए जाने वाले और अनार्यविधि से होने वाले। पन्द्रह कर्मादानों का जहा तक हो सके तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान करना चाहिए क्योकि वे सब अनार्यविधि से किए जाते है। अत. उनका परित्याग करना आवश्यक है। आर्य-विधि से व्यापार करनेवाला अणुव्रती अल्पारम्भी माना जाता है। छब्बीस बोलो की मर्यादा से और पन्द्रह कर्मादानो—अनार्य-व्यापारो के त्याग करने से इच्छाए बहुत कुछ रुक जाती हैं।

३. **अनर्थ-दड-विरमणव्रत**—किसी प्राणी को प्रयोजन वश जो दड दिया जाता है वह अर्थ दड है। जो किसी भी प्रयोजन के बिना दड दिया जाता है वह अनर्थ-दड है। किसी का बुरा सोचना, अचार, मुरब्बा, घी, तेल, अतिगर्म दूध, पानी आदि का वर्तन खुला रखना, लिहाज मे आकर अविवेकी को अस्त्र-शस्त्र देना, जिससे दूसरे पाप-कर्म मे प्रवृत्ति करे वैसे पापकर्म का उपदेश करना अनर्थ-दड है। अनर्थदंड का परित्याग किए बिना अणुव्रतो की सम्यक् आराधना नही हो सकती, अत श्रावक के लिये अनर्थ दंड से निवृत्त होना अत्यावश्यक है।

अणुव्रतो की रक्षा के लिए शिक्षाव्रतो की आराधना भी श्रावक के लिए अनिवार्य है। जैसे सर्वाङ्ग शरीर की रक्षा त्वचा करती है और त्वचा की रक्षा जल वायु धूप आदि वाह्य साधन करते

हैं, वैसे ही शिक्षाव्रतो के बिना गुणव्रत निर्बल और गुणव्रतों की निर्बलता से अणुव्रत निर्मूल हो जाते हैं। शिक्षाव्रतों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. सामायिक-व्रत—अणुव्रतो और गुणव्रतों की सम्यक् आराधना मे सामायिक विशुद्ध होती है। ज्ञान, दर्शन और देश-सयम की आराधना करना ही सामायिक है। इसमे कम से कम दो घटी, चार घडी या छः घडी भर पाप सहित मन वाणी और काय के व्यापार का पच्चक्खाण करना, धर्मशास्त्रो का स्वाध्याय और धर्म-ध्यान मे प्रवृत्त होना ही सामायिकव्रत है।

२. दिशावकाशिक व्रत—कुछ घटो के लिए दिशापरिमाण व्रत को और उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत को और भी सकुचित करना, या चौदह नियमों की मर्यादा करना। इसका विधि-विधान दिन-दिन के लिए भी है, रात भर के लिए भी और अहोरात्र के लिए भी। इस व्रत के साधक को अतिसीमित क्षेत्र में ही अहिंसा, सयम और तप की आराधना करने का व्रत लेना चाहिये। इसमें सभी सचित्त वस्तुओ के सेवन करने का त्याग होता है, अचित्त वस्तुओ का भी यथाशक्ति कम से कम उपयोग किया जाता है और किन्ही वस्तु का त्याग भी होता है। इस व्रत को दूसरे शब्दो मे छः काय-दया और सवर भी कहते है।

३ प्रतिपूर्णपौषधोपवास व्रत—यह श्रावक के बारह व्रतो में से ग्यारहवा, चार शिक्षाव्रतो मे से तीसरा तथा उत्तर गुणों मे से छठा व्रत है। इसकी आराधना अधिकतर पर्व के दिनो मे की जाती है। पर्व दो प्रकार के होते हैं—भोग-प्रधान और त्याग-प्रधान। जिन पर्वों मे खान-पान का, आमोद-प्रमोद का ढग

समयानुसार परिवर्तित होता रहता है, वे सब भोग-प्रधान पर्व माने जाते हैं। जिन पर्वों में मानव की भावना त्याग की ओर या निवृत्ति की ओर बढती है वे पर्व त्याग-प्रधान माने जाते हैं, जैसे कि अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णमासी, पर्युषण संवत्सरी या किसी तीर्थङ्कर का कल्याणक-दिवस। इन पर्वो मे आदर्श गृहस्थ की भावना विशेषकर त्याग की ओर ही अग्रसर रहती है।

पौषधोपवास व्रत भी दो तरह का होता है एक प्रतिपूर्ण और दूसरा आशिक। जिसमे चतुर्विध आहार का अहोरात्र के लिये त्याग हो, उसके साथ ही कुशील सेवन का भी त्याग हो, शरीर के सभी तरह के अलकार, विभूषा, स्नान, मजन, बनाव आदि का पूर्णतया त्याग हो, यहां तक कि उसमे चन्दन आदि का लेप लगाना और मेहदी आदि लगाना भी निषिद्ध हो, जिस आभरण को शरीर से अलग नही किया जा सकता उसे छोडकर कोई आभरण न पहना जाए पहनने के वस्त्र भी सादे हो वही पौषधोवास व्रत है। इसमे चमकोले भडकीले वस्त्रो का परित्याग भी आवश्यक है। इसमें उद्योगी हिंसा, आरम्भी हिंसा, विरोधी हिंसा का भी दो करण तीन योग से पच्चक्खाण होता है। किसी प्रकार का शस्त्र-अस्त्र अपने पास रखना भी सर्वथा वर्जित है। इस व्रत की आराधना कम से कम एक अहोरात्र के लिये हुआ करती है। जब द्रव्य, क्षत्र, काल और भाव पूर्णतया अनुकूल नही होते तब आशिक रूप से भी पौषधव्रत की आराधना की जा सकती है।

पौषधशाला मे जहा पौषधव्रत की आराधना प्रारम्भ की हो उस स्थान एव बिछौने को बिना देखे, बिना पडिलेहे उपयोग में नही लाना चाहिये। रात को बिना प्रमार्जन किए चलना नही चाहिये, दिन मे बिना देखे मलमूत्र नही परठना, रात को बिना

प्रमार्जन किए, मल-मूत्र आदि परठना नहीं। ऐसा करने से ही जीव-हिंसा से होने वाले दोषों एवं पापों से अपने को सुरक्षित रखा जा सकता है। पौषधव्रत मे विकथा, माया, निदान एवं मिथ्या-दर्शन-शल्य आर्त्त एवं रौद्रध्यान आदि पापजनक सभी प्रवृत्तियां निषिद्ध हैं। इसका सुप्रभाव सभी व्रतो पर पड़ता है, अत इस व्रत की आराधना प्रत्येक पर्व मे श्रावक के लिये अनिवार्य है।

४ अतिथि-संविभाग-व्रत — जिन के आने की न कोई तिथि निश्चित है और न समय ही उन्हें अतिथि कहते हैं। साधु-साध्वी एवं श्रमण-कल्प श्रावक इन सब का अन्तर्भाव अतिथि शब्द मे हो जाता है। इस प्रसग मे अतिथि शब्द श्रद्धास्पद व्यक्ति का परिचायक है, क्योंकि विरक्तात्मा पुरुष गृहस्थ को अपने आने या न आने का सकेत नही करते है और न वायदा ही करते हैं। वे घरो मे जाने की वारी भी नही वाधते। उनके द्वारा धारण किया हुआ अभिग्रह फलित हो जाने पर ही वे आहार ग्रहण करते हैं।

सविभाग का अर्थ है—अपने लिये वनी हुई वस्तु का वितरण अपने उपयोग के लिये लाये गये तथा वनाए गए पदार्थों का स्वय उपयोग या भक्षण न करके आये हुए अतिथि को दे देना अतिथि-सविभाग-व्रत है।

जव धर्म-निष्ठ श्रावक भोजन करने वैठे तव उस का कर्त्तव्य वनता है कि कुछ क्षण गुरुजनो का ध्यान करे, उनकी प्रतीक्षा करे। यदि गुरु अपने क्षेत्र मे विराजमान हों तो रात्रि-भोजन न करे, सचित्त वस्तु का आहार भी न करे, स्वय भी सूझता रहे और देने वाली वस्तु को भी सूझती रखे। दिन में अपने घर का द्वार खुला रखे। जव घर में अतिथि पधारे तव तुरन्त अपने उत्तरीय वस्त्र से मुख को आच्छादित करले। विधिपूर्वक

वन्दना नमस्कार करके १४ प्रकार की वस्तुओ मे से जिस वस्तु की उन्हे आवश्यकता हो या अपनी बुद्धि से स्वय उनकी आवश्यकता को समझकर सहर्ष समर्पित करना उनके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जैसे भी पुष्टि हो, वृद्धि हो—वैसी वस्तु वहराना अतिथि-सविभाग-व्रत है।

यह व्रत धर्म-दान के अतिरिक्त अन्य प्रकार के दानो की ओर सकेत नही करता। दान अनुकम्पा से भी दिया जाता है और श्रद्धा भक्ति से भी। अनुकम्पा-दान किसी भी व्रत का बाधक नही है, वह पुण्योपार्जन का हेतु है और प्रभावना का भी, किन्तु धर्म-दान निर्जरा एवं पुण्यानुबधी पुण्य का हेतु है, सम्यक्त्व का पोषक और मिथ्यात्व का शोषक है। अत श्रमण महन के अतिरिक्त अन्य भिक्षाचरो के लिए अतिथि शब्द का प्रयोग नही होता।

सग्रह-परायण मनोवृत्ति को निष्क्रिय बनाने और त्याग-भावना को जागृत करने के लिए इस व्रत का विधान है। यह अनुदारता एव ममत्व भाव को हटाने के लिए तथा उदार एव दाता बनने का मार्ग है। अन्याय-अनीति से द्रव्योपार्जन करने का त्याग और न्याय-नीति से उपार्जित किए हुए द्रव्य का उपयोग धर्मदान और अनुकम्पादान मे करना अपरिग्रह है। अपनी सुख-सुविधाओ मे सकोच करना और वस्तु एव द्रव्य पर से ममत्व घटाते रहना, श्रावक का परम लक्ष्य है, क्योकि ममत्व घटाने एव हटाने पर हो उसका उपयोग दूसरे के लिए किया जा सकता है। समाज की भलाई के लिए दान करना निष्परिग्रहता है और धर्मदान उत्तर-गुण है। सुपात्र को दान देने से मन के भाव सर्वथा पवित्र हो जाते हैं। उत्तरगुण चाहे महाव्रत के हो या अणुव्रत के, वे सभी साधको के जीवन का उत्थान-करनेवाले हैं।

२५. व्युत्सर्ग

तप के बारह भेदो मे से बारहवा भेद व्युत्सर्ग है, इसका अर्थ है परित्याग, विशेषत· ममत्व का परित्याग। ममत्व का त्याग करने पर ही इस तप की सार्थकता है।

इसके दो भेद हैं द्रव्य-व्युत्सर्ग और भाव-व्युत्सर्ग।

तप-परायण साधक शरीर आदि बाह्य पदार्थों का निश्चित काल के लिए या अनिश्चित काल के लिए या जीवन भर के लिए जो परित्याग करता है उसे द्रव्य-व्युत्सर्ग कहा जाता है। अपने शरीर पर भी ममत्व न रखना शरीर-व्युत्सर्ग है।

कल्पातीत या जिन-कल्प स्वीकार करने पर अपने गण या गच्छ का भी परित्याग कर देना गण-व्युत्सर्ग है।

जीवन-यात्रा के लिये अत्यावश्यक बाह्य उपकरणो को छोड़कर शेष सभी उपकरणो का त्याग करना अथवा सभी तरह की उपाधियो का पूर्णतया त्याग करना उपधि-व्युत्सर्ग है। भला जो अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखता, वह बाह्य उपधि अर्थात् उपकरणो पर ममत्व का विस्तार क्यो करने लगा? ममत्व ही दु ख का मूल कारण है। ममत्व की निवृत्ति से दु.ख की निवृत्ति स्वत हो जाती है।

सदोष आहार-पानी का त्याग करना अथवा सथारे मे जीवन भर के लिए निर्दोष आहार-पानी का त्याग करना, भक्त

पान-व्युत्सर्ग है। द्रव्य-व्युत्सर्ग का अस्तित्व अधिक से अधिक सातवे गुणस्थान तक पाया जाता है।

क्षपक-श्रेणि आरोहण करनेवाला साधक आठवें गुणस्थान से भाव-व्युत्सर्ग का आरम्भ करता है और चौदहवे गुणस्थान मे उसकी पूर्णता हो जाती है। यथाख्यात-चारित्र, वीतरागता और शुक्ल-ध्यान इनसे भाव-व्युत्सर्ग स्वत ही हो जाता है। भाव-व्युत्सर्ग के अनेक भेद हैं—कषायो की सत्ता को क्षीण करना कषाय-व्युत्सर्ग कहलाता है। इसके भी चार भेद हैं—क्रोध-व्युत्सर्ग, काम-व्युत्सर्ग माया-व्युत्सर्ग और लोभ-व्युत्सर्ग। आगमो मे जिस क्रम से चार कषायो का उल्लेख हुआ है उसी क्रम से उनका क्षय भी होता है।

तीसरे को छोडकर छठे गुणस्थान तक आयु का वध होना है। कभी-कभी जीव छठे गुणस्थान मे आयु का वध प्रारम्भ करके सातवे गुणस्थान में उस वध की पूर्णता कर लेता है। जिन कर्म-प्रकृतियो की विद्यमानता मे आयु-कर्म का वध होता है, उन कर्म-प्रकृतियो का क्षय हो जाने पर आयु-कर्म का भी वध नही होता। जव नरक आदि किसी भी भव की आयु का वध होता ही नही, तव ससार-व्युत्सर्ग स्वत· ही हो जाता है। ससार-व्युत्सर्ग चार प्रकार का होता है—नैरयिक ससार-व्युत्सर्ग, तिर्यंच ससार-व्युत्सर्ग, मनुष्य-ससार-व्युत्सर्ग और देव-संसार-व्युत्सर्ग। कषाय और नो कषाय से जीव आयु का बंध करता है, कषाय-व्युत्सर्ग के अनन्तर आयु का वध होता ही नही है। आयु-वध के विना ससार-व्युत्सर्ग हो जाता है, अर्थात् ससार से जीव का सम्बन्ध नही रह जाता। यद्यपि दसवे गुणस्थान तक लोभ कषाय की मात्रा पाई जाती है, तथापि अत्यन्त मद होने से उस के द्वारा

आयुकर्म का वध नही हो सकता।

कर्म-वध के कारणो का क्षय होने पर कर्म-व्युत्सर्ग होता है, क्षपक श्रेणि में और यथाख्यात-चारित्र काल मे घाति कर्मो का वध नही हो पाता, बल्कि समय-समय पर वे बलहीन होते-होते बाहरवे गुणस्थान मे उन्हे सर्वथा क्षीण कर दिया जाता है। क्षीण होते ही ज्ञानावरणीय कर्म-व्युत्सर्ग, दर्शनावरणीय कर्म-व्युत्सर्ग और अतराय कर्म-व्युत्सर्ग स्वत हो जाया करता है।

तेरहवे गुणस्थान मे प्रवेश के पहले समय मे ही केवलज्ञान, केवलदर्शन, सादि अनन्त वीतरागता और विघ्नो का ऐकान्तिक अभाव, अनन्त-शक्ति इत्यादि गुण घाति कर्मो के क्षय होने से उत्पन्न हो जाते हैं। चौदहवे गुणस्थान मे अघाति कर्मो का क्षय हो जाता है। शुक्लध्यान के चौथे चरण मे जब वेदनीय-कर्म-व्युत्सर्ग, आयु-कर्म-व्युत्सर्ग, नाम-कर्म-व्युत्सर्ग और गोत्रकर्म-व्युत्सर्ग हो जाता है, अर्थात् इन कर्मो का अवसान हो जाता है, तब जीव सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है, आत्मा से परमात्मा बन जाता है। कर्म-व्युत्सर्ग चौदहवे गुण स्थान मे ही होता है।

कहीं-कही भाव व्युत्सर्ग के चार भेद उपलब्ध होते है वही पर चौथा भेद योग-व्युत्सर्ग भी देखने को मिलता है। तीन योगो का त्याग करना योग-व्युत्सर्ग है। मन वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहते है। योगो का निरोध ही योग-व्युत्सर्ग है। पूर्णतया योगनिरोध चौदहवे गुणस्थान मे ही होता है। योग-निरोध होते ही जीव परमपद को प्राप्त कर लेता है। व्युत्सर्ग-तप मोक्ष-प्राप्ति मे अन्तरग कारण है, इसकी आराधना से सभी अन्तरग विकार नष्ट हो जाते हैं। यह परमशान्ति एव अखण्ड समाधि का मूल कारण है।

२६. अप्रमाद

प्रमाद का विरोधी तत्व अप्रमाद है । असावधानी से सावधानी की ओर बढना अप्रमाद है । जैसे कटकाकीर्ण मार्ग पर यदि कोई पथिक सभल-संभल कर बडी सावधानी से चलता है तो वह कांटो की चुभन से बहुत कुछ बच जाता है, जैसे किसी फिसलन वाले स्थल पर चलता हुआ मानव पद पद पर फिसलता ही जाता है, उसी स्थल पर यदि कोई विवेक पूर्वक सावधानी से चलता है तो वह सब तरह की क्षति से सुरक्षित रहता है, जैसे किसी भूमि-भाग मे मनुष्यो का बहुत बडा मेला भरा हुआ होता है, उस मेले मे जेब काटने वालो का गिरोह भी असावधान व्यक्तियो की खोज मे घूमता रहता है, यदि किसी की गांठ मे धन है तो उसे पूर्णतया सतर्क एव सावधान रहने की आवश्यकता होती है. तभी उसका धन सुरक्षित रह सकता है, वैसे ही साधना-पथ के पथिक के लिये आध्यात्मिक क्षेत्र मे निरन्तर अप्रमत्त रहने की आवश्यकता होती है ।

जिसके कारण जीव मोक्षमार्ग के प्रति प्रयत्नशील बन जाए वह अप्रमाद है । मन, वाणी और काय को सुमार्ग मे लगाना, केवली-भाषित धर्म के पालन करने मे उद्यम करना, देवगुरु और धर्म के प्रति मूढ़ न बनना, जिन वाणी पर, नव तत्त्वो पर और निर्ग्रन्थ प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा रखना, पाच महाव्रतों तीन गुप्तियो और पांच समितियो आदि मोक्ष के उपायो पर दृढ-निष्ठा रखना, पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एव त्रस

काय इन छ कायिक जीवो के अस्तित्व पर आस्था रखते हुए उनकी हिंसा न करना, जीवत्व की धारणा स्वीकार करना, इनमे कभी सशय न करना, स्वाध्याय से सम्यग्ज्ञान मे प्रवेश करना, अपनी श्रद्धा को जिन-वाणी के अनुकूल रखना, मोहजनक जड चेतन आदि पदार्थों से राग न रखना, शत्रुता रखनेवाले पर अप्रीति एव द्वेष न रखना, स्व-कर्त्तव्यो के प्रति सदैव जागरूक रहना आदि अप्रमाद के अनेक रूप है। यह एक ऐसा साधन है, जो आध्यात्मिक क्षेत्र मे साधक को पीछे हटने से बचाता है, पापकर्मो की ओर नही झाकने देता, परम एव चरम लक्ष्य से भटकने नही देता, साधना मे कभी अरुचि नही होने देता। इसी को दूसरे शब्दो मे अतर्जागरण भी कहते है। इसकी विद्यमानता मे आयु का वध नही होता, इसके प्राप्त होते ही अजर-अमर रूप अन्तरात्मा की अनुभूति होने लग जाती है।

सातवे गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक अप्रमाद की सत्ता रहती है। अप्रमाद के प्रभाव से कषाय आदि विकार निर्वल हो जाते हैं। जैसे सूर्य के उदय होने पर उल्लू आदि निशाचारी जीव इधर-उधर छिप जाते है, वैसे ही अप्रमाद के अवतरण से जीवन मे रहे हुए अवगुण सभी लुप्त एव नष्ट हो जाते है।

किं हिय ? अप्पमाओ—गौतम स्वामी ने भगवान महावीर के समक्ष प्रश्न रखा है—'हित क्या है ?" भगवान उत्तर देते है "अप्पमाओ—अप्रमाद।" विचारो को बाहर से लौटाकर आत्मा में लगाना, अपने स्वरूप मे रमण करना, विकथा—अनुपयोगी वार्तालाप में समय-यापन न करना इत्यादि अप्रमाद के ही अनेक

रूप हैं। मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा इनका अभाव ही अप्रमाद है ।

अप्पमाय तहावरं—जो प्रवृत्तिया प्रमाद से रहित है उनसे कर्म-बध नही होता ।

अप्पमत्तो परिव्वए—अप्रमत्त होकर धर्म के आचरण मे उद्यम करो ।

घोरा मुहुत्ता अवलं सरीर-भारंड पक्खी व चरेऽप्पमत्तो ।

काल निर्दयी है और शरीर निर्बल है, यह जानकर साधक को भारण्ड पक्षी की तरह सदैव अप्रमत्त होकर विचरना चाहिए।

सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं—अप्रमत्त साधक को कही से भी भय नही होता। वह न स्वय किसी से डरता है और न किसी को डराता ही है, अभय रहना ही उसका सहज जीवन है।

जहां भय है वहा प्रमाद है। अभय और अप्रमाद इनका परस्पर कार्य-कारण-भाव है। जहा अभय है वहा अप्रमाद है और जहा अप्रमाद है वही अभय है।

समयं गोयम ! मा पमाए—भगवान महावीर कहते है—हे गौतम ! समय भर का भी प्रमाद मत करो, क्योकि प्रमाद सबसे वडा अवगुण है। इसकी छाया मे हजारो ही नही लाखो अवगुण—दोष निवास करते हैं। जिनका परिणाम दुर्गतियो मे भोगना पडता है। दु खो की अविच्छिन्न परम्परा जिसमे हो वह दुगति है।

गोयम शब्द मन का प्रतीक भी है, क्योकि 'गो' शब्द का अर्थ है—"इन्द्रिया" और यम का अर्थ है नियन्त्रण। मन इन्द्रियो का नियंता है। साधक अपने मन को सबोधित करते हुए कहता

है– 'हे मन ! तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।'

अप्रमाद गुणनिधि है, गुणो का अक्षय भडार है। इसके रहते हुए जीवन के क्षेत्र से दोष—अवगुण सदा के लिए विदा हो जाते है। सुखो की परम्परा बीच मे कही भी विच्छिन्न नही होने पाती। दुर्गतियो से सदा के लिए सबध टूट जाता है। अप्रमाद आनन्द का अजस्र स्रोत है और धर्म-ध्यान एव शुक्ल-ध्यान का सहायक है। अप्रमाद की विद्यमानता मे अशुभ ध्यान करने का कभी अवसर ही नही आ पाता।

२७. लवालव

लवालव यह जैनागमो का पारिभाषिक शब्द है। 'स्तोक' काल का एक सूक्ष्मतम भाग है, सात स्तोक का एक लव होता है अर्थात् एक मुहूर्त के सत्रहवे अश को लव कहा जाता है। लवो की परम्परा को लवालव कहते हैं। जीवन का कोई भी लव सुनिवृत्ति एव सुप्रवृत्ति के बिना नही जाने देना चाहिये। धर्म केवल निवृत्यात्मक ही नही है, प्रवृत्ति को यदि प्रवृत्ति के जल से ही सीचा जाएगा तो वह ठूठ की तरह सूख जाएगी, मुरझा जाएगी। प्रवृत्ति उस समय मदमाते हाथी की तरह पागल हो जाती है जब कि उस पर निवृत्ति का अकुश नही रह जाता।

तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा, गुरु एव शास्त्र की आज्ञा भी दो प्रकार की होती है—निवृत्ति रूपा और प्रवृत्ति रूपा। जैन धर्म प्रत्येक साधन को सम्यक् भी मानता है और मिथ्या भी। जैसे कि भक्ति-मार्ग जन-जन मे प्रसिद्ध है, उसी को ले लीजिए। जैन संस्कृति के अनुसार भक्ति का अर्थ है अपनी आत्मा के प्रति निष्ठा अर्थात् आत्म-तत्त्व के प्रति सर्वतोभावेन समर्पण—आत्म-अवस्थिति के लिये समर्पित हो जाना यदि अन्तरात्मा के प्रति हमारी दृढ श्रद्धा एव समर्पण हो जाए तो हमारी सर्वतोमुखी विजय सुनिश्चित है।

आत्मा तो प्राणी मात्र मे विद्यमान है। अन्य आत्माओं के प्रति करुणा होनी चाहिये, किन्तु वही सब कुछ है, वही हमारा उद्धार करेगा, ऐसा भक्ति-मार्ग जैन धर्म को स्वीकार्य नही है। हमने जब भी भगवान की भक्ति की है इसी दूसरे मार्ग से की है, यही कारण है कि हमारा अभी तक उद्धार नही हो सका। जब तक हम स्वय कुछ नही करते, तब तक हमारा उद्धार नही हो सकता, मुक्त होने के लिये हमारी सहायता कोई नही कर सकता। भगवान के गीत गाने से या गुणगान करने से ही हमारा उद्धार नही होगा, भगवान के निर्मल गुणो को अपने जीवन मे उतारने से ही हमारा उद्धार हो सकता है। भक्ति के गान से गाने का आनन्द तो मिल सकता है, किन्तु हमारे हृदय मे प्रभु के गुणो का अवतरण नही हो सकता, गुणो के लिए तो स्वत ही गुणी बनना पडेगा, गायक बनने से काम नही चल सकता। वैसे ही सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् साधनो द्वारा आत्मोद्धार ही जैन धर्म का मार्ग है।

विरक्तो के क्रोध मे भी जो प्रेम देखता है और आसक्तो के प्रेम मे भी जो क्रोध देखता है वही सच्चा द्रष्टा है। जब भौतिक सुखो मे प्रेम की अनुभूति होने लगती है, तब साधक बाहरी दुनिया को भूल जाता है। जब अन्तरात्मा मे एव धर्म-साधन मे प्रेम हो जाता है, तब साधक अपने शरीर-तक को भूल जाता है। प्रेम परिश्रम को हल्का और दु ख को मधुर बना देता है। भलो से प्रेम करना चाहिए और बुरो को क्षमा करना चाहिए। महा-मानव का निर्णय सदैव दृढ और अटल होता है, तभी वह ससार को अपने साचे मे ढाल सकता है, किन्तु जो अपने लिए नियम नही बनाता उसे दूसरो के बनाये नियमो पर चलना पडता है। जिन्होने अपनी आत्मा को जान लिया है, उन्ही लोगो के लिए

आगम-वाणी विशेष रूप से सार्थक होती है।

साधु को प्रतिक्षण शास्त्रोक्त समाचारी के अनुष्ठान मे इस प्रकार सलग्न रहना चाहिए जिससे शक्ति मन, वाणी और काय की प्रवृत्ति सतत धर्म के प्रति अभिमुख बनी रहे। समाचारी का आशय है, वे धार्मिक क्रियाए जिनका आचरण सम्यक् रूप से किया जाए, अथवा जिसका आचरण समान रूप से किया जाए, जैसे सभी प्राणियो को खाद्य, पेय एव वायु आदि जीवन-उपयोगी पदार्थों की समान रूप से आवश्यकता रहती है, वैसे ही साधु समुदाय के लिये समाचारी की आवश्यकता भी अनिवार्य है। समाचारी में सभी साधनो का समावेश हो जाता।

समाचारी को सामाचारी भी कहा जाता है। सामाचारी तीन प्रकार की होती है—ओघ-सामाचारी, दशविध सामाचारी और दश-विभाग सामाचारी। इनमे ओघ-सामाचारी के सात भेद हैं, जैसे कि १ प्रतिलेखन २. पिण्ड ३ उपधिप्रमाण ४. अनायतवर्जन ५ प्रतिसेवना ६ आलोचना और ७, विशोधि।[1]

सामाचारी का यह विभाग व्यवहार सूत्र, बृहत्कल्प, दश-श्रुतस्कन्ध जीतकल्प कल्पसूत्र आदि छे सूत्रो मे वर्णित है।

दशविध सामाचारी की परिचयात्मक व्याख्या इस प्रकार है—

१ **आवश्यकी सामाचारी**—साधु जिस मकान या उपाश्रय मे ठहरा हो, उससे बाहर न जाना यह उसके लिये दैनिक क्रिया-कलाप की सामान्य विधि है। विशेष विधि के अनुसार आवश्यक कार्य होने पर वह उपाश्रय से बाहर जा सकता है। उस समय उसका यह कर्त्तव्य बन जाता है कि यदि आवश्यक कार्य के लिये

---

१ ओघ-निर्युक्ति २

बाहर जा रहा हो तो अन्य आवश्यक कार्यों में प्रवृत्ति न करे। जब स्वाध्याय-भूमि में जाना हो, स्थण्डिल भूमि में जाना हो, किसी रुग्ण के लिये औषध-अनुपान आदि लाने हो या विहार करना हो, इत्यादि विशेष कारणों से साधु बाहर जा भी सकता है, जैसे राष्ट्रपति का, प्रौढयौवना कन्या या कुलाङ्गना का बिना प्रयोजन के इधर-उधर घूमना-फिरना शोभाजनक नही होता, इससे लोगो पर अच्छा प्रभाव नही पडता वैसी ही स्थिति साधु की भी होती है। उपाश्रय मे रहते हुए जैसे साधु सार्वभौम महाव्रतो की रक्षा पांच समितियो और तीन गुप्तियो से करता है वैसे ही उपाश्रय से बाहर भी अपने व्रतो और समितियों की रक्षा करने का स्वर उसका कर्तव्य बन जाता है। अत बाहर जाते समय साधु ऊचे से आवश्यकी शब्द का उच्चारण करे। यह सोचे कि मैं गुरु की या भगवान की साक्षी से आवश्यक कार्य के लिये बाहर जा रहा हूं, बिना सत् प्रयोजन के नही। यही इसका भाव है।

२ **नैषेधिकी सामाचारी**—आवश्यकी का प्रतिपक्ष नैषेधिकी है। जब साधु कार्य से निवृत्त होकर उपाश्रय मे प्रवेश करे तब उसे नैषेधिकी शब्द का उच्चारण करना चाहिए अर्थात् मैं उस आवश्यक काय से निवृत्त हो चुका हू, जिस के लिय मैं बाहर गया था। यदि प्रवृत्ति करते समय मेरे से अकरणीय कार्य होगया हो तो मैं उसका निषेध करता हू, अर्थात् अपने आपको उससे दूर करता हू, अत जाती बार आवस्सही आवस्सही कहना चाहिए और उपाश्रय मे प्रवेश करते समय ऊचे स्वर से निस्सही-निस्सही कहना चाहिए। ऐसे न कहने पर साधु रत्नत्रय का विराधक माना जाता है। गमन-आगमन के समय उसका लक्ष्य पवित्र एव सत्य होना चाहिए। इसी कारण से इन दो सामाचारियो का निर्देश किया गया है।

३. आपृच्छा सामाचारी—अपना कार्य हो या किसी दूसरे का कोई कार्य हो, साधु, धर्माचार्य, गुरुजनो या रात्निको से बिना पूछे न करे। पूछने पर एव आज्ञा प्राप्त होने पर ही उसे किसी कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिए। यह सामान्य विधान है कि उच्छ्वास एव नि श्वास के अतिरिक्त शेष सब कार्यों के लिए साधु को गुरु की आज्ञा लेनी चाहिए। विनीत शिष्य गुरु की स्पष्ट आज्ञा का इच्छुक होता है, क्योंकि उसका यह विश्वास है कि गुरु की आज्ञा कार्य-सिद्धि मे सहायक होती है। गुरु की आज्ञा मे चलने से ही मेरा हित है। इससे हानि और लाभ का उत्तरदायित्व मेरे पर नही गुरु पर हो जाता है और अहभाव भी मन मे नही रहता। अत कोई भी काम जब शिष्य को करना हो, तब गुरुजनो को पूछ कर ही करना चाहिए। इस सामाचारी का सही अर्थों मे यदि गण मे रहने वाले साधु पालन करते रहे तो शासन की सेवा और बडो की कृपा-दृष्टि अखण्ड बनी रहती है।

४, प्रतिपृच्छा सामाचारी—गुरु के द्वारा किसी कार्य मे नियुक्त किए जाने पर उसे प्रारम्भ करते समय पुन गुरु से पूछ कर आज्ञा लेना, अथवा प्रयोजन-वश गुरु ने पहले जिस कार्य को करने के लिए निषेध किया है, आवश्यकता होने पर फिर उसकी आज्ञा गुरु से प्राप्त करने को प्रतिपृच्छा कहते है। यदि गुरु ने किसी कार्य को करने का निषेध कर दिया है, उसी कार्य मे प्रवृत्त होना यदि आवश्यक हो तो गुरु से पूछना चाहिये कि "गुरुदेव! भले ही इस कार्य के लिए आपने पहले मना किया था, किन्तु समयानुसार यह काम करना जरूरी भी बन गया है, यदि आप आज्ञा दे तो मैं करू?" यही इस सामाचारी का भाव है।

अथवा अपने काम को करने के लिए गुरु से आज्ञा प्राप्त

करना प्रतिपृच्छना है। शिष्य को गुरु से पूछे बिना कोई काम करना ही नही चाहिए, चाहे वह कार्य अपना हो या दूसरे का। पूछने पर भी यदि आज्ञा दे तो करे, नही तो न करे। जो काम पूछ कर किया जाता है उसमे अशान्ति नही होती, वैमनस्य पैदा नही होता और गण एवं संघ मे अखण्ड शान्ति बनी रहती है।

५ छन्दना सामाचारी—लाए हुए आहार का यथाविधि सविभाग करने पर अपने हिस्से मे से भी अन्य मुनिवरो को निमत्रण करना अथवा मुनिवर को भिक्षा मे जो प्राप्त हुआ है उसके लिए भी अन्य साधुओ को निमत्रित करना छन्दना-सामाचारी है। इसमे अन्यान्य साथी मुनिवरो से सहानुभूति, अपनत्व, प्रीति आदि की वृद्धि होती है और साथ ही उदारता भी प्रकट होती है, रसनेन्द्रिय-विजय और सतोप, ये उदारता के सहयोगी गुण है।

६. अभ्युत्थान सामाचारी—अभ्युत्थान शब्द गुरुजनो के पधारने, खडे होने और उद्यम करने के अर्थ मे रूढ है, अर्थात् गुरुजनो के आगमन पर, उनके खडे होने पर एव उनके द्वारा किसी कार्य मे प्रवृत्ति करने पर शिष्य को उनसे पहले ही खडे हो जाना चाहिये, इसे ही अभ्युत्थान सामाचारी कहा जाता है।

यदि किसी साधु को भिक्षा के लिये जाने पर आहार नही मिला, यदि वह दूसरी वार आहार लेने के लिए जाने लगे तो उसे दूसरे साधुओ से पूछना चाहिए कि "क्या मैं आपके लिए भी आहार लाऊ?" इस प्रकार पदार्थ-प्राप्ति से पहले ही साधुओ को आमत्रण करना चाहिए। इसी को दूसरे शब्दो में निमन्त्रण भी कहते है। छन्दना और अभ्युत्थान ये दोनो समा-

चारिया अभिव्यक्त करती हैं कि साधक के प्रति वत्सलता का होना अत्यावश्यक है। जब साधक मे परमार्थ दृष्टि जाग उठती है तभी वत्सलता, विनीतता एवं प्रीति आदि का उद्‌भव हो जाता है। अत इन दोनो सामाचारियो का पालन होने पर ही गण-व्यवस्था ठीक चल सकती है।

७ **इच्छाकार सामाचारी**—बडा साधु छोटे साधु से और छोटा साधु बड़े साधु से यदि कोई काम कराना चाहे तो उसे इच्छाकार का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् यदि आपकी इच्छा हो तो मेरा यह काम आप कर दे। इस तरह परस्पर एक दूसरे से सहयोग लिया और दिया जाता है, किन्तु सहयोग भी वल प्रेरित न होकर इच्छा-प्रेरित होना चाहिए। सामान्य विधि के अनुसार बल-प्रयोग सर्वथा वर्जित है, किन्तु विशेप विधि मे आज्ञा एव वल का प्रयोग भी व्यवहार मे किया जा सकता है। जो काम या सहयोग प्रसन्नता एव इच्छा से किया जाता है वह पुण्यानुवधी पुण्य का और निर्जरा दोनो का कारण होता है। अनिच्छा से किया हुआ कार्य कर्म-वध का ही कारण होता है, अत दूसरे की इच्छा होने पर ही उसको काम लेना चाहिए। हुक्म और बल-प्रयोग तो राजनीति मे ही सफल हो सकता है धर्म-नीति मे नही।

८ **मिथ्याकार सामाचारी**—साधक के द्वारा कही न कही भूल का हो जाना भी स्वाभाविक है। जब कभी साधु को अपनी भूल का ज्ञान हो जाए तभी "**मिच्छा मि दुक्कड**" का उच्चारण करना चाहिए। जो अपने द्वारा हुई भूल को मिथ्या मान कर उससे निवृत्त होता है, उसी का दुष्कृत मिथ्या होता है। जब साधक अपने साधुत्व की मर्यादा से स्खलित हो जाए या उसमे

कोई विपरीत आचरण हो जाय, तब वह अपनी दूषित आत्मा की निन्दना करे, पश्चात्ताप करे। यही इस सामाचारी का भावार्थ है। साधु को अपनी भूलें बड़े चातुर्य से देखते रहना चाहिए तभी दोषों से निवृत्ति हो सकती है।

९ तथाकार सामाचारी—प्रायश्चित्त देते समय, आगम-वाचना देते समय, शंकाओं का समाधान करते समय जो कुछ भी गुरुजन कहें उस समय "तहत्ति"—जैसे आप कहते हैं वह सत्य है, ऐसा कहना तथाकार है। इसमें गुरु-वचन विनयपूर्वक स्वीकृत किए जाते हैं। इससे शिष्य के मन में गुरुभक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। अनाशातना और विनय ये दोनों ज्ञान-प्राप्ति में मूलकारण हैं।

१०. उपसम्पदा सामाचारी—किसी भी गण में जाकर साधक जो गुण-समृद्धि प्राप्त करता है उसे उपसम्पदा कहते हैं। सामान्यत. गण-व्यवस्था की दृष्टि से एक गण का साधु दूसरे गण में नहीं जा सकता। इसके कुछ विशेष कारण भी हैं, परन्तु तीन कारणों से दूसरे गण में जाना विहित है, आध्यात्मिक लाभ के लिए, अनि-श्चित काल तक स्वाध्याय आदि के लिए अपने गण को छोड़कर अन्य गण में जाना उपसंपदा है। उपसंपदा के तीन भेद हैं ज्ञान-उप-संपदा, दर्शन-उपसंपदा और चारित्र-उपसंपदा।

आगम-शास्त्रों के अध्ययन के लिए, शंकाओं के समाधान के लिए, पुनरावृत्ति करने के लिए, ज्ञान की विशिष्टता के लिए नई धारणा एवं नया ज्ञान प्राप्त करने के लिए दूसरे गण में रहनेवाले किसी विशिष्ट ज्ञानी के पास गणनायक आचार्य की आज्ञा लेकर ज्ञान पाने के लिए जाना ज्ञानार्थ-उपसंपदा है।

दर्शन का अर्थ है श्रद्धा, जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है उसे वैसा ही मानना—विश्वास करना सम्यग्दर्शन है। सच्चा परीक्षक वही होता है जो सत् और असत् मे, असली और नकली मे, खोटे और खरे मे भेद को समझ सके। सम्यग्दृष्टि भी आध्यात्मिकता के सदर्भ मे सच्चा पारखी होता है। अपनी श्रद्धा को विशुद्ध से विशुद्धतर बनाने के लिये तथा दर्शन-शास्त्रो के रहस्य को समझने के लिए आचार्य के माध्यम से अनिश्चित या निश्चित काल के लिये दूसरे गण मे जाना दर्शनार्थ-उपसपदा है।

किसी विशिष्ट सयमी के निर्देशन मे रहकर तपस्या, वैयावृत्य, ध्यान-समाधि, कषाय-उपशमन, इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि चारित्र-धर्म की विशिष्ट आराधना के लिए आचार्य के माध्यम से दूसरे गण मे जाना चारित्रार्थ-उपसम्पदा है।

आचार्य के द्वारा की हुई व्यवस्था से एक गण को छोडकर दूसरे गण मे आना-जाना आगम-विहित है। अपनी इच्छा से दूसरे गण मे जाना स्वच्छन्दता है। अनुशासन से ही शासन चलता है। स्वच्छन्दता से अराजकता बढती है, जन-शान्ति डावाडोल हो जाती है, धर्म के प्रति जन-आस्था उठ जाती है। समाज मे विषमता पैदा हो जाती है। अत सब कार्य सघनायक की आज्ञा से करने चाहिए, अपनी इच्छा से नही, यही उपसपदा सामाचारी से स्पष्ट सकेत मिलता है।

सामाचारी का सम्यक् पालन ही चारित्र है। चारित्र का और विनय का सम्बन्ध सामाचारी के साथ ऐसा जुडा हुआ है जैसे बीज और छिलके का सम्बन्ध होता है। छिलके के बिना बीज अकिंचित्कर है और बीज के बिना छिलका अकिंचित्कर

है। सामाचारी के विना चारित्र नही और चारित्र के विना सामाचारी नही। साधुत्व के सभी साधनो का समावेश समाचारी मे हो जाता है। अनुशासन, विनय, तप, वैयावृत्य अनाशातना संयम इत्यादि सभी साधन सामाचारी के भीतरी अग है। जबकि संघ एव गण सामाचारी के बाह्य अग है।

२८. ध्यान-संवरयोग

तीन योगो का सवर ध्यान से होता है, अथवा ध्यान ही संवर-योग है । सर्व प्रथम यह जानना आवश्यक होगा कि ध्यान का अधिकारी कौन है ? ध्यान का स्वरूप क्या है ? और ध्यान का कालमान कितना है ?

आदि के तीन संहननो वाले साधक ध्यान के अधिकारी माने गए हैं । साधक के द्वारा किसी एक विशिष्ट विषय पर मन को एव वृत्तियो को केन्द्रित करना ध्यान है । छद्मस्थ का केन्द्रित किया हुआ मन ध्येय पर अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्तप्रमाण ही रह सकता है ।

मन की प्रवृत्तिया तीन प्रकार की होती है—भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता । जिससे मन भावित है उसमे चित्त को वार-वार लगाना भावना है । ध्यान से उपराम होने पर उससे प्रभावित मानसिक चेष्टा को अनुप्रेक्षा कहते हैं । मन मे उठने वाले सकल्प की सभी तरगे चिन्ता मे समाविष्ट हो जाती है ।

चल चेतना को चित्त कहा जाता है और उपर्युक्त तीन भेद चल चेतना के ही हैं ।

स्थिर चेतना को ध्यान कहा जाता है । चित्त अनेक वस्तुओ, विपयो या व्यक्तियो की ओर दौड़ता ही रहता है । चित्त को

नियन्त्रित करके, उसकी भाग-दौड समाप्त करके उसे एक ध्येय पर स्थिर कर देना ध्यान है।

ध्यान तीन तरह का होता है—मानसिक ध्यान, वाचिक ध्यान और कायिक ध्यान। इन्हे ही दूसरे शब्दो में मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति भी कहते हैं।

ध्यान के भेद

एकाग्र चिन्तन को ध्यान कहते है, इस अपेक्षा से ध्यान के दो भेद होते हैं—अप्रशस्त ध्यान और प्रशस्त ध्यान। अप्रशस्त ध्यान के दो भेद है—आर्तध्यान और रौद्रध्यान। आर्ति का अर्थ है दु ख, उससे उत्पन्न होनेवाली एकाग्रता को आर्त-ध्यान कहा जाता है। दु ख उत्पन्न होने के मुख्य चार कारण है—अनिष्ट वस्तु का सयोग, इष्ट वस्तु का वियोग, प्रतिकूल वेदना और भोगो की लालसा। इन चार कारणो से ही आर्त्त ध्यान हुआ करता है।

आर्तध्यान का स्वरूप और उसके भेद

अनिष्ट वस्तु के सयोग से जब दुखित आत्मा उसे दूर करने के लिए सतत चिन्ता किया करता है, तब वह अनिष्ट-सयोग आर्त-ध्यान कहलाता है। किसी इष्ट वस्तु के चले जाने पर उसकी प्राप्ति के निमित्त निरतर चिन्ता करना इष्ट-वियोग आर्त्त ध्यान है। शारीरिक एव मानसिक रोगो के उत्पन्न होने से जो चिन्ता उत्पन्न होती है वह चिन्ता ही आर्त्तध्यान है। भोगो की तीव्र लालसा से अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का उत्कट सकल्प या निदान करना आर्त्तध्यान है। रोना-धोना, शोक करना, आसू बहाना और विलाप करना ये आर्त्तध्यान के चार लक्षण है। आदि के छ गुण-

स्थानो मे आर्त्तध्यान का अस्तित्व रहता है। आर्त्तध्यान का चौथा भेद प्रमत्त गुण स्थान में नही होता। अपने और अपने साथियो के प्रेम एवं राग से यह ध्यान होता है।

रौद्र ध्यान का स्वरूप और उसके भेद

अप्रशस्त भावलेश्या एव द्वेष से क्रूरता-पूर्ण भावो की सतत अवस्थिति ही रौद्र ध्यान है। इसके मुख्य चार भेद हैं जैसे हिंसानुबधी, मृषानुबधी, स्तेनानुबधी और सरक्षणानुबधी।

शिकार खेलने के समय मन की एकाग्रता, दुनियावी स्वार्थों की पूर्ति के लिए किसी देव-देवी या पितरो के नाम पर बलि देते समय मन को एकाग्र करना, जनसहार के लिए बम वर्षा करना, किसी को मारने के लिए मन मे योजना बनाना, पनडुब्बी के द्वारा किसी समुद्री बेडे को डुबोना, विनाशक बम बनाने के तत्त्वो की खोज करना इत्यादि अनेक रूप हिसानुबधी रौद्रध्यान के हैं। दूसरो की हानि सोचना, दूसरो के विनाश के लिए टूना-टामन करना आदि भी इसी ध्यान मे निहित हैं।

दूसरो को ठगने की प्रवृत्ति, मायाजाल की रचना, "मैं उसके सामने किस प्रकार का झूठ बोलू, किस प्रकार का झूठ बोल कर अमुक को निर्धन बना दूं, राजा से रंक बना दूं, दूसरो को अपने जाल मे फसा दू, उसे बेइज्जत करदू, उसके ऊपर कैसा आरोप लगाऊं कि उसकी सपत्ति हड़प कर जाऊ", इस प्रकार के असत्य बोलने की एव दूसरो को पीडित करने की योजनाए बनाना मृषानुबधी रौद्रध्यान है।

डाका मारना,, चोरी करना, किसी की गाठ काटना, किसी को मार्ग मे लूटना, जूआ खेलना, किसी से धोखेबाजी करना,

विषैले रुमाल को सु घा कर दूसरो के द्रव्य का हरण करना, चोरी के नये-नये तरीके सोचना, स्तेनानुवधी रौद्रध्यान है। जब मन मे लोभ होता है और जब उस लोभ को कपट सहयोग देता है तब चोरी की जाती है। चोरी के विषय मे गहराई से सोचना, चोरी करना इन सब दुष्कर्मो का अन्तर्भाव इसी ध्यान मे हो जाता है।

इस ससार मे जितने भी पदार्थ है वे सब के सब पाच इन्द्रियो के विपय है—रेडियो, टेलीविज़न, टेलीफोन, सगीत के साज-बाज ये श्रोत्रेन्द्रिय विषय के साधन है। वस्त्र, आभूपण, बनाव के सभी साधन, प्रकाश, खेल-तमाशे, नाटक, सिनेमा, दूर-दर्शन, प्रदर्शनी इत्यादि साधन चक्षुरिन्द्रिय के विषय है। सुगन्धि के सभी पदार्थ घ्राणेन्द्रिय के विषय है। खाने-पीने का कच्चा-पक्का माल, लौंग, इलायची, पान-बीड़ी, सिगरेट, हुक्का, तम्बाकू-सुलफा, भाग आदि सभी पदार्थ रसनेन्द्रिय के विषय है। रेफ्रीजरेटर आदि यत्र रसनेन्द्रिय विपय के पोषक है। पुष्प-शय्या, गलीचे, पलंग, पखा, आरामकुर्सी इत्यादि सब पदार्थ स्पर्शनेन्द्रिय के विषयो के साधन हैं। इन सबकी प्राप्ति धन से होती है, धन, विषय और विषय-साधन ये सब ममत्व एवं मूर्छा के सवर्धक हैं, इनमे शकाशील बन कर रहना कि कोई इन्हे उठा न ले जाए, कोई खराब या तोड-फोड़ न करदे, कोई बलात् इन पर अधिकार न जमा ले, कोई छीना-झपटी न करले, कोई आगज़नी न करदे, पहरे का प्रबन्ध होते हुए भी भयभीत रहना, उन की रक्षा के लिए युद्ध करना, हजारो-लाखो प्राणियो को मौत के घाट उतार देना, इस प्रकार की बाते सोचना या करना सरक्षणानुबधी रौद्र ध्यान है। राग-द्वेष से व्याकुल जीव में चारो प्रकार का रौद्र-ध्यान होता है। यह ध्यान आवागमन को बढाने वाला है और

दुर्गतियो मे धकेलने वाला है।

रौद्रध्यान के लक्षण

जिस से वस्तु के यथार्थ रूप का ज्ञान हो, वह लक्षण कहा जाता है। लक्षणो से जहा बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है वहा उनके आतरिक भावो की जानकारी भी प्राप्त हो जाती है। रौद्र-ध्यान के स्वरूप को जानने के लिये आगमकारो ने उसके चार लक्षण बतलाए है, जैसे कि—

ओसन्नदोष

जिस की विचारधारा एव चेतना हिसादि पाप-कर्मो से निवृत्त नही हुई, चित्त-वृत्तिया कर्मों की ओर उन्मुख है, जो निर्दयतापूर्ण व्यवहार करनेवाला है, जो अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए दूसरे के धन और प्राणो को भी खतरे मे डाल सकता है, जिसका जीवन लोगो के लिए भयावह है, वह रौद्रध्यान के किसी भी एक रूप मे प्रवृत्ति करता है।

बहुलदोष

जिस का रौद्र-ध्यान अतिमात्रा मे बढा हुआ है, वह हिसादि सभी दोषो एव अशुभ कार्यो मे प्रवृत्ति करता है।

अज्ञानदोष—कुशास्त्रो के सस्कारो से, निकृष्ट लेश्या से और अज्ञानता से हिसा आदि पाप-कार्यो मे भी धर्म-बुद्धि से प्रवृत्ति करना अज्ञान-दोष है।

आमरणान्तदोष—आयु-पर्यन्त किसी भी पाप-कर्म का पश्चात्ताप न करना या किसी के प्रति जो एक बार क्रोध या द्वेष उत्पन्न हो जाता है, उसे जीवन भर कभी भी न छोडना आमर-

णान्त दोप है । इस प्रकार का व्यक्ति रौद्रध्यानी माना जाता है । कठोर एव खराव विचारो वाला रौद्रध्यानी दूसरे के दुख मे प्रसन्न होता है और दूसरे को सुख मे देखकर खिन्न हो जाता है । ऐसे व्यक्ति को अकार्य करके भी पश्चात्ताप नही होता । जिसे पाप कार्यो मे प्रवृत्ति सुखद प्रतीत होती है वह रौद्रध्यानी है । इन लक्षणो से रौद्रध्यान की पहचान होती है ।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनो निम्न कोटि के ध्यान है । इनसे और इनके कारणो से दूर रहना साधक के लिए अनिवार्य है । इनकी साधना योग-साधना नही है । यह तो जान-बूझ कर दुर्गति मे जाना है । निकृष्ट-ध्यान से ही पाप प्रवृत्ति होती है । निकृष्ट-ध्यान पापवृत्ति को जगाता है और पापवृत्ति निकृष्ट-ध्यान को जागृत करती है, दोनो एक दूसरे के पूरक एव पोपक हैं । इन दोनो से सावधान एव सतर्क रहने के लिए सर्व प्रथम इनका विवेचन करना आवश्यक होगा । हानि एव विघ्न समूहो से अपने को सुरक्षित रखना ही धर्म-ध्यान एव शुक्लध्यान की प्रवृत्ति मे सहायक है, अत. लाभ की अपेक्षा सव से पहले साधको को हानि के सभी उन्मार्गो से परिचय कराना हितैपी का कर्त्तव्य है ।

यह ध्यान तीसरे गुणस्थान तक तो होता ही है, चौथे एव पाचवे गुण-स्थान मे तो आशिक रूप मे ही पाया जाता है ।

धर्म-ध्यान .—

धर्म और ध्यान इन दो पदो से यह शब्द वना हुआ है । धर्म का अर्थ है—किसी तत्त्व या व्यक्ति की वह प्रवृत्ति जो उसमे सदा रहे, उससे कभी भी अलग न हो, अर्थात् वस्तु का स्व-भाव ही धर्म है । अथवा जिन-प्रणीत आगमो द्वारा आचार्यो एव

मुनीश्वरों द्वारा निर्दिष्ट वे साधन, जिनका आचरण कर्मक्षय के लिए किया जाए या पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिए किया जाए, अथवा जो साधन अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के मूलकारण हैं। अथवा जो गुण-विशेष के विचार से उचित और आवश्यक हो, अथवा जिन से आत्मा अष्टविध कर्मबध से एव सब प्रकार के दु खो से मुक्ति दिलाने वाला हो, वही तत्त्व-धर्म है। इसके अनेक अवान्तर भेद हैं जैसे कि—

धर्म का एक भेद—वस्तु का स्वभाव ही धर्म है—"वत्थुसहावो धम्मो" अथवा आज्ञा मे धर्म है, अथवा आत्मा की अन्तर्मुखीवृत्ति ही धर्म है।

धर्म के दो भेद—सयम और तप, अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति, श्रुतधर्म और चारित्र धर्म, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् क्रिया, विद्या और चारित्र, राग और द्वेष से निवृत्ति, व्यक्तिगत धर्म और सामाजिक धर्म, सवर-धर्म और निर्जरा-धर्म, सूत्र-धर्म और अर्थ-धर्म, अगार-धर्म और अनगार-धर्म।

धर्म के तीन भेद—अहिंसा, सयम और तप। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान-योग।

धर्म के चार भेद—दान, शील, तप और भाव। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। विनय, श्रुत, तप और आचार। आज्ञा-विचय, अपायविचय, विपाक-

विचय और संस्थानविचय, मैत्री, प्रमोद करुणा और मध्यस्थ भाव।

धर्म के पांच भेद—पाच समितियो का पालन, पाच इन्द्रियों का निग्रह। पाच महाव्रतो या पाच अणुव्रतो तथा पाच चारित्रों का पालन, चार कषाय और मन, इन पांचो पर विजय।

धर्म के छ भेद—छ काय की हिंसा से निवृत्ति, छ कायो की यथावत् रक्षा, छ प्रकार का वाह्यतप, छ प्रकार का आभ्यन्तर तप, छ प्रकार का कल्प। षड् आवश्यक।

धर्म के सात भेद—सात शिक्षाव्रत। सप्त कुव्यसनो का त्याग—(शिकार खेलना, सुरापान करना, जुआ खेलना, परस्त्री-गमन, वेश्या-गमन, चोरी करना, मांस और अडा आदि का सेवन करना, ये सात कुव्यसन है)।

धर्म के आठ भेद—सिद्धो के आठ गुणो का चिन्तन करना। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन सवको आराधना करना धर्म हैं।

धर्म के नौ भेद—नौ वाडो सहित ब्रह्मचर्य-धर्म की आराधना करना। ब्रह्मचर्य संयम भी है और सारे तपो में उत्तम तप भी है—"तवेसु व उत्तमं वभचेरं।" आगमकारो ने ब्रह्मचर्य को उत्तम तप माना

है। शेप तप के भेद इसी की सिद्धि के लिए किए जाते हैं।

धर्म के दस-भेद—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम मुक्ति, उत्तम तप, उत्तम सयम, उत्तम सत्य, उत्तम शौच—अन्त करण शुद्धि, उत्तम अपरिग्रह और उत्तम ब्रह्मचर्य। इस प्रकार धर्म के अनेक-अनेक भेद हो सकते हैं।

ध्यान का अर्थ है—ध्येय में तन्मय हो जाना। ध्यान-योग मे तीन बातें मुख्य हैं—चित्त की एकाग्रता के लिए उपयुक्त जीवन की परिमितता और साम्यदशा, अभ्यास और वैराग्य। इन से ध्यान की सिद्धि होती है। इन मे से वैराग्य विध्वंसक क्रिया है और अभ्यास विधायक क्रिया है। खेत से घास उखाडकर फेकना विध्वंसक क्रिया है, उसमे बीज बोना विधायक कार्य है। वैराग्य अन्त करण मे रहे हुए मोहतत्त्व को उखाड कर बाहर फैंक देता है, जबकि अभ्यास ध्येय को पाने के लिए ध्याता को सहयोग देता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान की निवृत्ति एव व्यावृत्ति के लिए ध्यान के साथ धर्म शब्द जोडा गया है। इसका अर्थ होता है—धर्म का ध्यान, धर्म मे ध्यान अथवा जो ध्यान धर्म से ओत-प्रोत हो उसे धर्म-ध्यान कहा जाता है। धर्म-ध्यान के मुख्य चार भेद हैं, जिन मे धर्म के सभी भेदो का समावेश हो जाता है। उनका सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है —

१ **आज्ञा-विचय**—तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा क्या है? उन्होने ऐसी आज्ञा क्यो दी है? इस विषय पर विचार, गवेषणा

एव अनुसधान करना उनकी आज्ञा का रहस्य जानने के लिए मन को एकाग्र करना आज्ञाविचय धर्म-ध्यान है।

भगवान की आज्ञा को सत्य समझना, उस पर पूर्णश्रद्धा रखना, नव-तत्त्वो मे किसी एक तत्त्व का चिंतन-मनन करना यदि कोई तत्त्व समझ मे न आए तो उसमे शका न करना, वीतराग भगवान की वाणी मे मन को एकाग्र करना और विश्वास रखना कि प्रभुवाणी ही अर्थरूप है—परमार्थ रूप है तथा शेष सब कुछ अनर्थ रूप है।

वाणी तीन तरह की होती है—रोचक, भयानक और यथार्थ। वीतराग प्रभु की वाणी केवल यथार्थ ही होती है जबकि अल्पज्ञ की वाणी यथार्थ कम होती है, रोचक और भयानक अधिक होती है। जिसका चित्त कषायो से अनुरजित है, उसमे सत्यता की मात्रा अत्यल्प ही होती है। अतः वीतराग प्रभु की वाणी मे असत्याश लेश मात्र भी नही होता। आगम-समुद्र मे आत्म-कल्याण के अनमोल-रत्न भरे पडे है, जिनसे क्षणमात्र मे ही आध्यात्मिक दरिद्रता नष्ट होकर सदा-सदा के लिए आत्मा आध्यात्मिक विभूतियो मे समृद्ध बन जाता है। इस प्रकार अपनी सूझ-बूझ से जिन-वाणी मे मनोयोग देना धर्म-ध्यान है।

२ अपाय-विचय—अठारह तरह के पापो एवं दोपो के स्वरूप को जानकर उनसे छुटकारा पाने के लिए मनोयोग देना अपाय-विचय धर्मध्यान है। अपाय का अर्थ है हानि एव दु ख।

अपाय चार प्रकार का होता है—द्रव्य-अपाय, क्षेत्रापाय, कालापाय और भावापाय। जो भौतिकद्रव्य सुख एव आनन्द के शोषक एव मारक हैं वे द्रव्यापाय हैं।

जो स्थान दु ख और प्राणो का नाशक है वह क्षेत्रापाय कहलाता है।

जो काल उन्नति एवं सुख समृद्धि में बाधक है, जो वातावरण मन के सर्वथा विपरीत है, ऐसे दु षमकाल को कालापाय कहा जाता है।

काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, राग, और द्वेष आदि प्रकृतियो के उदय से जीव को ऐहिक एव पारलौकिक सकटों का सामना करना पडता है, दुर्गतियो में जाकर अपने अशुभ कर्मो का फल भोगना पडता है और उसकी जन्म-मरण की परम्परा अटूट बन जाती है।

भावापाय क्या क्या है ? और उनसे अलगाव कैसे हो सकता है ? उनसे बचने के लिए मनोयोग देना अपाय विचय है। साधक को अपाय-विचय धर्मध्यान से कर्मबध के सभी हेतुओ को जानकर उनमे निवृत्त होने का अभ्यास करना चाहिये।

३. **विपाक-विचय**—अनुभव मे आनेवाले कर्म विपाको मे से कौन-कौन सा विपाक किस-किस कर्म का फल है ? कर्मों के वशी-भूत हुआ जीव चार गति, चौरासी लाख योनियो मे भटक रहा है, सपत्ति-विपत्ति, सयोग-वियोग, दुख-सुख अपने किए हुए यथा-सभव आठ कर्मों की एक सौ अढतालीस प्रकृतियो का अनुभव करते हुए ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। इस प्रकार कर्म-विषयक चिंतन मे मनोयोग देना विपाक-विचय धर्मध्यान है। इससे आत्मा मे यह धारणा जागृत हो जाती है कि अपने द्वारा उपार्जित कर्मो के सिवाय अन्य कोई भी मुझ को सुख-दु ख देने वाला नही है—**"सुखस्य दु खस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति विमुंच शेमुषीम्"**—जबसाधक यह समझ लेता है कि सुख

का या दु ख का देनेवाला अन्य कोई नही है तब वह सोचता है। "हे आत्मन्! दूसरा कोई दु ख या सुख देता है इस बुद्धि या मिथ्या धारणा को बिल्कुल छोड दे।" ऐसा चिन्तन करने वाले साधक को सुख-प्राप्ति में कभी अहकार नहीं होता और दु खो के आक्रमण से कभी घबराहट नही होती, वह समता से दोनो का स्वागत करना अपना धर्म समझता है।

४. **संस्थान-विचय** - लोक के स्वरूप एव स्वभाव मे मनोयोग देना सस्थान-विचय धर्म-ध्यान है। आगमो के स्वाध्याय से लोक स्वरूप और लोकस्वभाव का ज्ञान होता है। यद्यपि लोक-स्वरूप और लोक-स्वभाव ये दोनों अलग-अलग हैं, तथापि इन दोनों का परस्पर आधार-आधेय सबध है, क्योकि लोक-स्वरूप का ज्ञान होने पर ही लोक-स्वभाव का ज्ञान हो सकता है। लोक स्वरूप का अर्थ है—लोक का आकार, आयाम-विष्कम्भ, समभाग, मध्यभाग, विशालता, लोक-स्थिति आदि विषयो पर चिन्तन करना। जब ध्याता प्राणियो की उत्पत्ति, स्थिति, जन्म-मरण सुख-दु ख, पुण्य-पाप, राग-द्वेष आदि विषयो की ओर मनोयोग देता है तब वह लोक-स्वभाव कहलाता है। अत लोक-स्वरूप मे लोक स्वभाव का होना निश्चित है।

इस ध्यान से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है, मन अन्य बाह्य विषयो से हट कर स्थिर हो जाता है, मानसिक स्थिरता द्वारा आध्यात्मिक सुखो की प्राप्ति अनायास हो जाती है। धर्म-ध्यान का पहला चरण ध्याता को ध्येय के गुणो की ओर आकृष्ट करता है। धर्म-ध्यान का दूसरा चरण ध्याता को पापवृत्तियो से निवृत्त होने की प्रेरणा देता है। धर्मध्यान का तीसरा चरण ध्याता को कर्म-सिद्धान्त की जानकारी के साथ-साथ उदीयमान कर्म-प्रकृतियों

का अलग-अलग फल जानकर समता मे उनका भुगतान करने की ओर प्रवृत्त करता है । धर्मध्यान का चौथा चरण ध्याता को ज्ञेय विषयो की ओर आकृष्ट करता है । जब ज्ञान ज्ञेय रूप मे परिणत हो जाता है तब उसको क्षायोपशमिक ज्ञान कहा जाता है, किन्तु जब ज्ञेय ज्ञानरूप मे परिणत हो जाता है तब वह क्षायिकज्ञान कहलाता है । पहला विकल्प साधक की दृष्टि से और दूसरा विकल्प-सिद्ध की दृष्टि से है ।

धर्म ध्यान के लक्षण

जिन लक्षणो मे हम धर्म-ध्यान की पहचान कर सकते हैं वे लक्षण सख्या मे चार है, उन का विवरण इस प्रकार है—

१ आज्ञा-रुचि—तीर्थंकरो की, जिनवाणी की या आचार्यों की आज्ञा मे रुचि का होना धर्मध्यान का पहला लक्षण है । जो साधक आज्ञा-पालन मे रुचि रखता है वह निश्चित ही धर्म में ध्यान रखता है ।

२. निसर्ग रुचि—पूर्व जन्मार्जित सस्कारो की प्रबलता से स्वभावत ही केवली-भाषित तत्त्वो पर श्रद्धा का होना धर्म-ध्यान का दूसरा लक्षण है ।

३ सूत्र-रुचि—सूत्रागम, अर्थागम और उभयागम द्वारा केवली-भाषित तत्त्वो पर आस्था रखना, उनके अनुसार आचरण करना या आगम शास्त्रो के प्रति विशेष रुचि का होना सूत्र-रुचि है ।

४ अवगाढ-रुचि—विस्तार के साथ द्वादशाङ्ग वाणी का ज्ञान प्राप्त करके जिन प्रणीत भावो पर होने वाली श्रद्धा, अथवा आगमानुसार धर्मोपदेश सुनकर जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे अवगाढरुचि या उपदेशरुचि कहा जाता है ।

पच परमेष्ठी के गुणो का कथन करना, भक्ति-पूर्वक उनकी प्रशसा एव स्तुति करना, गुरु आदि की विनय करना, भूल कर भी कभी उनकी आशातना न करना, उन्हे १४ प्रकार का दान देना, उनके श्रुत, शील एव सयम मे अनुराग रखना तत्त्वो के अर्थो पर श्रद्धा रखना, साधक के ये सभी गुण धर्म-ध्यान के चिन्ह हैं।

धर्मध्यान के अवलम्बन

गगन-चुम्बी महलो के शिखर पर पहुंचने के लिए जैसे लिफ्ट, सीढी आदि का उपयोग करना जरूरी होता है वैसे ही धर्म-ध्यान के शिखर पर पहुचने के लिए निम्नलिखित प्रमुखतम चार अवलम्बन है, केवली-प्ररूपित शास्त्रो का मनन करते-करते जब स्व-अर्थात् अपना ही अध्ययन प्रारम्भ हो जाता है वह स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय द्वारा श्रुत-ज्ञान प्राप्त होता है, श्रुत ज्ञान से धर्म-ध्यान के शिखरो पर पहुचना सुगम हो जाता है।

१ वाचना—संवर और निर्जरा के लिये शिष्य को सूत्र और अर्थ का स्वाध्याय कराना, वाचना है। गुरु की यह मनोभावना होती है कि शिष्य आगमो का ज्ञान प्राप्त करके वहुश्रुत वने। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे शिष्य को वाचना देते हैं। कुछ गुरुजन इस उद्देश्य से भी वाचना देते है कि उनके शिष्य उनकी साधना मे सहायक वने, क्योकि सुशिक्षित शिष्य ही आहार-पानी, वस्त्र, पात्र, मकान, आदि की शुद्ध गवेषणा करने योग्य बन सकता है और दूसरो के सयम मे सहायक वन सकता है। कुछ गुरुजन अपने कर्मो की निर्जरा के उद्देश्य से शिष्यो को वाचना देते हैं। कुछ गुरुजन इस उद्देश्य से भी वाचना देते हैं कि पढने की अपेक्षा पढाने

से ज्ञान स्पष्ट हो जाता है, अत मेरा सीखा हुआ ज्ञान भी वाचना देने से स्पष्ट हो जाएगा। कुछ गुरुजन इस लक्ष्य से वाचना देते हैं कि शास्त्र पढाने की परम्परा चलती रहे नही तो शास्त्र का ही व्यवच्छेद हो जाएगा। अध्ययन और अध्यापन की परम्परा अपने गण मे विच्छिन्न न होने देना यह बहुश्रुत का परम कर्त्तव्य है।

शिष्यो का भी यह कर्त्तव्य होता है कि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये, तत्त्वो पर श्रद्धा करने के लिये, चारित्र एव सयम की विशुद्धि के लिये, हठवाद या एकान्तवाद को छोडने और छुडाने के लिये, अनेकान्तवाद का आश्रयण लेने के लिये, आगमो का अध्ययन करने पर द्रव्य एव पर्यायो का यथातथ्य ज्ञान हो जाएगा इस विचार से श्रुतज्ञान का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए।

२. **पृच्छना**—वाचना ग्रहण करते समय या पहले सीखे हुए श्रुतज्ञान में शब्दगत या अर्थगत सन्देह होने पर शका-समाधान के लिये ज्ञानी गुरुजनो से श्रद्धापूर्वक प्रश्न पूछना ही पृच्छना है। प्रश्नोत्तर विधि से ज्ञान बढ़ता है, शकाओं का समाधान करने से एवं पाने से मन समाधिस्थ हो जाता है।

३. **परिवर्तना**—सूत्र रूप मे और अर्थ रूप मे सीखे हुए ज्ञान की आवृत्ति करते रहना, उसे चितारते रहना परिवर्तना है। परिवर्तना से श्रुतज्ञान इतना सुदृढ हो जाता है कि वह भावी जन्मो मे भी उद्बुद्ध हुए विना नही रहता। स्वाध्यायशील साधक का भावी जन्मो मे भी मस्तिष्क स्वच्छ निर्मल एव व्युत्पन्न रहता है।

४. **धर्म-कथा**—धर्मकथा के अतिरिक्त शेष सब विकथाए है। धर्मकथा सुनाने वाला यदि शरीर-सम्पदा से युक्त हो, उसकी धारणा-शक्ति और स्मरण-शक्ति प्रबल हो, वाणी और स्वभाव मे

माधुर्य हो स्वमत और परमत का ज्ञान हो, मानवता की पहचान हो, मन मे विरक्ति हो, जिनवाणी पर अटल श्रद्धा हो और विनीत एव निर्लोभी हो वही वक्ता धर्मकथा से जनता को प्रभावित कर सकता है, धर्म-प्रभावना से जीव अपना भविष्य उज्ज्वल करता है। धर्मकथा करना भी स्वाध्याय है। निरन्तर किये जाने वाले स्वाध्याय से धर्म-ध्यान की ओर प्रवृत्ति बढती जाती है। यह स्मरणीय है कि धर्मोपदेश देने से वक्ता का भी कल्याण होता है और वह जनता का भी कल्याण करता है।

धर्म-ध्यान की अनुप्रेक्षाएं अनुप्रेक्षा का अर्थ है परिचित और स्थिर विषय का निरन्तर चिन्तन करना अथवा कुछ विस्मृत हुए सूत्र और अर्थ को स्मरण मे लाने के लिये वार-वार मनोयोग देना, अथवा एकत्व, अनित्यत्व, अशरणत्व और ससारत्व की भावना जगाने के लिये मनोयोग देना अनुप्रेक्षा है इसके भी चार रूप हैं, जैसे कि—

१ **एकत्वानुप्रेक्षा**—"इस ससार मे न कोई मेरा है—न मैं किसी का हू, मैं तो अकेला हू" इस तरह आत्मा के एकत्व एव असहायपन की भावना करना एकत्व-अनुप्रेक्षा है। इस से आत्मा को यह अनुभूति हो जाती है कि जब मेरा कोई है ही नही और न मैं किसी का हूं, शरीर भी मेरा नही है तब ममत्व किस पर करू ? ममत्व ही मोह और दु ख का मूल कारण है। मोह, आसक्ति और इच्छा इन सब से मुक्त होने में ही सुख है। इस तरह की विचारधारा ही आत्मा को मोह-सागर से पार उतारती है।

२. **अनित्यानुप्रेक्षा**—संसार मे सभी दृश्यमान पदार्थ परिवर्तनशील है, यह शरीर भी अनेक विघ्न-बाधाओ का, रोगो एव

आतंक का स्थान है। सम्पत्ति विपत्ति से घिरी हुई है, सयोग वियोग से परिव्याप्त है, जन्म मृत्यु से घिरा हुआ है— ससार के सभी पदार्थ अनित्यता से घिरे हुए हैं। इस तरह की भावना आत्मा मे विरक्ति पैदा करती है। जहा विरक्ति है वहा आसक्ति प्रवेश नही कर पाती। जब मोह-वर्धक पदार्थो को नित्य समझा जाता है, तभी उन मे आसक्ति बढती है। आसक्ति की गहरी जडो को विरक्ति ही उखाड सकती है। विरक्ति साधक को धर्मध्यान के शिखर पर पहुचा देती है।

३ अशरणानुप्रेक्षा जब सकट-काल मे या मृत्यु के समय मनुष्य जड-चेतन पदार्थो या देवी-देवताओ की शरण ढूढता है, तब वह अनुभव करता है कि यहा माता, पिता, पुत्र, मित्र, कनक, कामिनी आदि मे से मुझे सहायता या शरण देने वाला कोई नही है। तव वह उद्बुद्ध होकर कहता है —"हे जीव! केवलि-भाषित धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई तेरा रक्षक नही है।"

इस अनुप्रेक्षा से आत्मा को इस बात का लाभ होता है कि अज्ञान एव मोह के वशीभूत अपरिपक्व साधक जिन पदार्थो को शरणरूप मानता है, मोह-तिमिर के हट जाने पर वे सभी पदार्थ स्वयं उसे अशरणरूप दीखने लगते है।

४ संसारानुप्रेक्षा—मोह का नाम ही ससार है जीव मोह के उदय से ही चौदह राजुलोक के भीतर विविध गतियो और योनियो मे जन्म मरण के चक्र मे भटक रहा है। फिर भी इस को सुख नही सुखाभास ही मिल पाता है। ससार मे जितने भी अनन्त-अनन्त जीव है उन सव के साथ प्रत्येक जीव का सम्बन्ध मित्रता और शत्रुता के रूप मे स्थापित हो चुका है। इस प्रकार ससार-परिभ्रमण

का चिन्तन करना ही ससारानुप्रेक्षा है।

इन अनुप्रेक्षाओ से ससार की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाता है। जिस को खरे और खोटे रत्न का ज्ञान होता है वह खरे रत्न का कभी दुरुपयोग नहीं कर सकता और खोटे रत्न की चमक दमक को देखकर उस पर मुग्ध नही हो सकता। वह संसार को कदलीस्तभ के समान निस्सार समझता है। ससार को साररूप समझना ही भूल और अज्ञानता है। संसार में यदि कुछ साररूप है तो केवली-भाषित धर्म ही है। ससार के सयोग-वियोग-जन्य दु खों और सुखाभासो पर विचार करना ही धर्म-ध्यान की प्रवृत्ति को जगाना है। धर्म-ध्यान से ससार की निवृत्ति स्वय हो जाती है।

धर्म-ध्यान का चौथा चरण है सस्थान-विचय। किसी आकार विशेष का ध्यान करना ही संस्थान-विचय है। आत्मा का आकार या उस के स्वरूप का विचार करना ही धर्मध्यान है। इस के मुख्य-तया चार भेद है जैसे कि पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपा-तीत। इन धारणाओ के बल से ध्यान की सिद्धि की जाती है।

१. पिण्डस्थ-धर्म-ध्यान —

ध्यान करने वाले के लिये ध्येय की सिद्धि के निमित सबसे पहले एकान्त एव शान्त वातावरण वाले स्थान मे पहुच कर पद्मा-सन या सुखासन से बैठकर, अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडे हो कर मन, वाणी और काय को एव इन्द्रियो को अशुभ प्रवृत्तियो से हटाकर अपने मे सलीन करना अ नवार्य है। पिण्डस्थ का अर्थ है अपने पिण्ड मे अर्थात् शरीर मे अवस्थित आत्मा का ध्यान करना। इसकी सिद्धि के लिये क्रमश. पाच धारणाए उपयोग मे लाई जाती हैं जैसे कि —

१ **पार्थिवी-धारणा**—सबसे पहले एकाग्रमन से इस मध्य-लोक मे अवस्थित अत्यन्त, निर्मल, श्वेत रग वाले क्षीर-समुद्र को ध्यान मे देखे, फिर उसके ठीक मध्य मे जम्बूद्वीप प्रमाण लम्बे चौड़े, हजार पखुडियो से युक्त तपे हुए स्वर्ण वर्ण वाले एक कमल के आकार की कल्पना करे। उसके मध्य मे पीले रग वाली सुमेरु के समान ऊची कणिकाओ के दृश्य की कल्पना करे। उसके शिखर पर मणिरत्नो से जडा हुआ एक सिहासन ध्यान मे देखे। फिर उस सिहासन पर अपने को अष्टविध कर्मो का क्षय करने के लिये उद्यत होकर ध्यान मुद्रा मे बैठे हुए की धारणा करे। इस धारणा का वार-बार हृदय मे नित्यप्रति अभ्यास करना चाहिये। जब इस ध्येय की सिद्धि करने मे सफलता प्राप्त हो जाय, तब दूसरी धारणा का मनन करना चाहिए।

२ **आग्नेयी धारणा**—ध्यान करने वाला उसी सिहासन पर बैठा हुआ चिन्तन करे कि मेरी नाभि के भीतरी भाग से एक श्वेत रग वाला कमल विकसित हुआ है, जिसकी सोलह पखुड़िया हैं, उसकी प्रत्येक पखुडी या पत्ते पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ, ओ औ अ अ ये सोलह अक्षर क्रमश. स्वर्णिम वर्ण मे लिखे हुए है। उनके मध्य मे एक पीले रग वाला अक्षर 'र्हं' लिखा हुआ भासित हो रहा है। इसी कमल से कुछ ऊपर हृदय कमल औधे मुख खिला हुआ है। उस कमल के आठ ही पत्ते हैं जिनका रग विल्कुल काला है। वे काले पत्ते हैं—ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय रूप आठ कर्म है ऐसा चिन्तन करे।

नाभि-कमल के ठीक मध्य मे जो पीले रग वाला 'र्हं' है। उसमे से धुआ निकल कर अग्नि-शिखा मानो भडक उठी है, वह

औंधे मुख वाले कमल को जलाने लगी है, जलाते हुए वह अग्नि शिखा मेरे मस्तक तक आ गई है, फिर वह अग्निशिखा शरीर के दोनो ओर रेखा रूप आकर ऊपर की ओर दोनो कोनो के रूप मे आपस मे मिल गई हैं। शरीर के चारो ओर वह शिखा त्रिकोण रूप हो गई है। अब इस त्रिकोण की तीनो रेखाओ पर र र र र र र र रूप अग्नि-तत्त्व वेष्टित है।

इसके तीनो कोनो मे बाहर की ओर अग्निमय स्वस्तिक है। भीतर तीनो कोनो मे अग्निमय 'ॐ र्ं' लिखे है। ऐसा भी चिन्तन करे कि यह मण्डल भीतर तो आठ कर्मो को और बाहर शरीर को दग्ध करके भस्म बना रहा है। शनै शनै वह शान्त हो रहा है, परिणाम स्वरूप वह अग्नि-शिखा जहा से उठी थी वही समा गई है। इस प्रकार का चिन्तन करना आग्नेयी धारणा है।

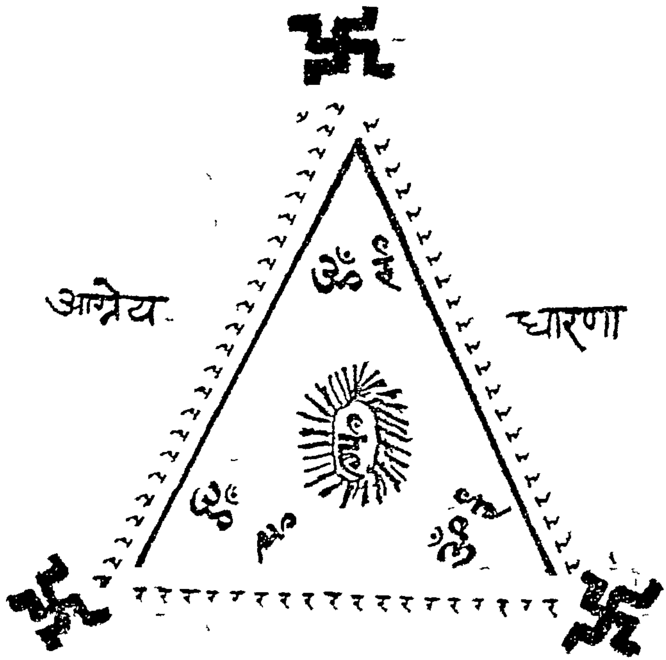

३. वायवी-धारणा—जब ध्याता दूसरे ध्येय की धारणा मे पूर्णतया सफल होजाए तो वह यह चिन्तन करे कि मेरे चारो ओर वायु मडल घूम-घूम कर कर्मों की राख को उडा रहा है। ध्यानावस्था मे उस मडल के चारो ओर स्वाय-स्वाय अक्षर अकित हुए देखे।

स्वाय

स्वाय 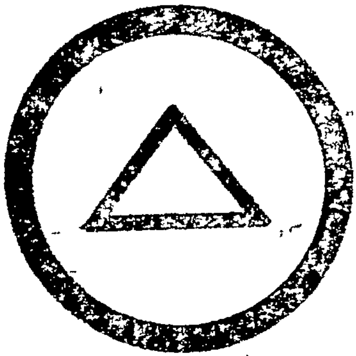 स्वाय

स्वाय

४. वारुणी-धारणा—ध्याता जब तीसरी धारणा के अभ्यास मे सफल हो जाए, तब वह चौथी धारणा में प्रवेश करके चितन करे कि मेरे ऊपर काले-काले मेघ छा गए है खूब पानी बरसने लग गया है। जल-धाराएं आत्मा के साथ लगी हुई कर्म-रज को या आत्मा की मलिनता को दूर करके स्वच्छ एव निर्मल कर रही है। ऐसा भी चितन करे कि उस मेघ मण्डल मे चारो ओर प प प लिखे हुए है।

प	प	प	प	प	प
प	प	प	प	प	प
प	प	प	प	प	प
प	प	प	प	प	प

५. तत्त्वरूपवती धारणा—जब ऐसा चिंतन करते-करते अभ्यास दृढ हो जाता है तब पाचवी धारणा की भावना जगानी चाहिए। इस धारणा मे अपने को सब कर्मों से एव शरीर से रहित शुद्ध-शुद्ध परमात्मा के रूप मे चिंतन करना चाहिये।[1]

२ पदस्थ-धर्मध्यान

आगमशास्त्र के किसी एक पाठ का एकाग्रता से चिंतन करना, जैसे "लोगस्सुज्जोयगरे,, पाठ का ध्यान करना। इस पाठ मे सात गाथाये हैं, और अट्ठाईस चरण हैं। उनमे से अतिम तीन चरणो को छोड़ कर पच्चीस चरणो का पच्चीस श्वासो मे चिंतन करना। पदो मे ध्यान को अवस्थित करना ही तो पदस्थ-ध्यान कहलाता है। अथवा एक-एक पद पर रुकते हुए प्रत्येक पद के अर्थ का चिन्तन करना पदस्थ धर्म-ध्यान है। अथवा अपने हृदय में, मस्तक मे या दोनो भौंहों के मध्य मे या नाभि में ॐ को चमकते सूर्य के समान देखे, इसी मे अरिहन्त को या सिद्ध पद को देखे। अथवा-हृदय मे आठ पाखुडियो वाले एक पुण्डरीक कमल का निर्माण करके उसकी आठो पखुडियो पर क्रमश पीले रग वाले आठ पद अकित करे। "नमो अरिहंताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाण, नमो लोए सव्वसाहूण, सम्यग्दर्शनाय-नमः, सम्यग्ज्ञानाय नम, सम्यक्चरित्राय नम"। फिर प्रत्येक पद पर ध्यान देकर उसे बार-बार पढना पदस्थ धर्मध्यान है।

३ रूपस्थ-धर्म ध्यान—

ध्याता अपने चित्त मे यह चिंतन करे कि मै समवसरण मे साक्षात् तीर्थंकर भगवान को देख रहा हूं। अशोक वृक्ष के नीचे

---

१ इसकी विशेष व्याख्या के लिये पाठक-गण योग-शास्त्र तथा ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थ देख सकते हैं।

सिंहासनस्थ भगवान को छत्र चामरादि आठ प्रतिहार्यों के सहित देख रहा हूं। बारह प्रकार की परिषद भगवान के धर्मोपदेश सुन रही है। चौतीस अतिशय और पैंतीस वाणी के अतिशयो से युक्त भगवान के दर्शन करने के लिए चिंतन करना, अरिहत भगवान का साकार ध्यान करना रूपस्थ धर्म-ध्यान है।

४ रूपातीत धर्मध्यान—

जब ध्याता अपने को सिद्ध भगवान की तरह निर्विकल्प समझकर ध्यान करता है, तब ध्येय मे परिणत ध्याता भी अपने मे रूपातीत सिद्ध भगवान की अनुभूति करने लग जाता है।

सस्थान-विचय धर्मध्यान के पिण्डस्थ आदि चार भेदो मे से कोई सा भी भेद मन की एकाग्रता, कषायो के शमन, सवर एव निर्जरा मे समर्थ है। कोई सा भी ध्यान अपने आप मे न न्यून है और न अधिक। इनका उत्तरोत्तर विकास चौथे गुण-स्थान से प्रारम्भ होता है और सातवे गुण-स्थान मे धर्म-ध्यान की पूर्णता हो जाती है। धर्म-ध्यान मे पूर्णतया अप्रमत्त सयत ही लीन हो सकता है।

धर्मध्यान के सदर्भ मे दो परम्पराए विद्यमान हैं। एक मान्यता श्वेताम्बरो की है, वह सातवे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक धर्मध्यान का अस्तित्व मानती है। दूसरी दिगम्बरो की है वह धर्मध्यान का अस्तित्व सातवे गुणस्थान तक ही स्वीकार करती है, आगे के गुणस्थानो मे शुक्लध्यान ही पाया जाता है। वह भी केवल पूर्वधर श्रुतज्ञानी मे ही, अन्य मे नही।

शुक्लध्यान और उसके भेद—

जो ध्यान अत्युज्ज्वल हो, जिसमे प्रविष्ट होकर साधक को

परमानन्द एवं परमशान्ति के अतिरिक्त किसी भी अन्य पदार्थ की अनुभूति न होती हो जो यथाख्यात चारित्र के वल से वीतरागता की ओर वढता ही जाए, वह शुक्लध्यान है। शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी इस ध्यान मे लीन साधक का मन लक्ष्य मे तिल भर भी विचलित नही होता। शुक्लध्यान के चार प्रकार है—

१ पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी।
२ एकत्व-वितर्क-अविचारी।
३ सूक्ष्म क्रिया-अनिवर्त्ती।
४ समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती।

१ पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी—

जव एक द्रव्य के पृथक्-पृथक् अनेक पर्यायो का नयो की दृष्टि से चिन्तन किया जाता है तव पृथक्त्व पद सार्थक होता है उसमे पूर्वगत श्रुतज्ञान का आलवन लिया जाता है, अत पृथक्त्व-पद के साथ ही वितर्क पद का उपयोग किया गया है। वितर्क शब्द का विशेष अर्थ है श्रुतज्ञान। सविचारी का अर्थ है शब्द का चिन्तन करते करते अर्थ का चिन्तन करना, अत शब्द से अर्थ मे और अर्थ से शब्द मे चिन्तन की धारा वदलते रहना, मन, वचन और काय मे से एक योग से दूसरे मे विचारो का सक्रमण करना ही सविचारी कहलाता है। इसमे ध्यान का विषय द्रव्य और उसके पर्याय ही रहते है।

ध्यान दो प्रकार का होता है—सालंवन और निरालवन। इन्ही को दूसरे शब्दों मे सविकल्प-ध्यान और निर्विकल्प-ध्यान भी कह सकते हैं। ध्यान मे ध्येय का परिवर्तन होता भी है और नही भी। जव कोई ध्याता-पूर्वधर हो तव पूर्वगत श्रुतज्ञान के

आधार पर और यदि पूर्वधर न होता प्राप्त श्रुतज्ञान के आधार पर एक पर्याय से दूसरी पर्याय मे तथा दूसरी पर्याय से तीसरी पर्याय मे विचारो का सक्रमण करता रहे, यही इस ध्यान की उपयोगिता है। इस ध्यान का पूर्ण विकास ग्यारहवे गुणस्थान मे होता है।

एकत्व-वितर्क-अविचारी—इस ध्यान मे श्रुतज्ञान का अवलबन होने पर भी मुख्य रूप से अभेद चिन्तन की प्रधानता रहती है अर्थ, शब्द और योगो का पारस्परिक परिवर्तन एव सक्रमण नही होता। जिस प्रकार निर्वात स्थान मे दीपक की लौ अडोल एव स्थिर रहती है उसी प्रकार इस ध्यान मे चित्त स्थिर रहता है। एक लक्ष्य को छोडकर दूसरे लक्ष्य पर नही जाता, चित्त एकाग्र हो जाता है। यह ध्यान क्षपक श्रेणी मे होता है और बारहवे गुणस्थान मे इसकी पूर्णता हो जाती है। उपर्युक्त दोनो मे से पहले भेद-प्रधान ध्यान का अभ्यास दृढ हो जाने के अनन्तर ही इस दूसरे अभेद-प्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

सूक्ष्म - क्रिया - अनिवर्त्ती—शुक्लध्यान का तीसरा चरण तेरहवे गुणस्थान के अन्तिम छोर पर और चौदहवे गुणस्थान मे प्रवेश करने से पहले उपयुक्त होता है। मुक्त होने से पहले केवली भगवान मन और वचन इन दो योगो का निरोध पूर्णतया कर देते हैं, अर्ध काय-योग का निरोध भी कर लेते है। सिर्फ काय मे उच्छ्वास और निश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएं ही रह जाती हैं। केवली वहा से पीछे नही हटते। योगनिरोध के क्रम मे काय-योग के सूक्ष्म रूप का आश्रय लेकर शेष सभी योगो को रोक लेते है।

समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती—शैलेशी अवस्था को प्राप्त

केवली भगवान सभी योगो का निरोध कर लेते हैं। योगो के निरोध से सभी क्रियाए रुक जाती हैं। तब उनका यह ध्यान सदैव ही बना ही रहता है। इस ध्यान के प्रभाव से वे आस्रवो का पूर्ण निरोध करके पूर्णसवर और अघाती कर्मो का सर्वथा क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेते है।

शुक्ल-ध्यान के पहले दो भेद छद्मस्थ मे पाए जाते है और अतिम दो भेद केवल ज्ञानी मे ही पाए जाते है। इन मे किसी भी प्रकार के श्रुतज्ञान का आलम्बन नही होता, अत ये दोनो ध्यान निरालम्बन भी कहलाते है।

शुक्लध्यान के चार लक्षण —

१. अव्यथ - शुक्लध्यानी के मन मे या शरीर मे क्षोभ एव व्यथा का सर्वथा अभाव होता है।

२ असम्मोह—शुक्लध्यान मे विषयो का सम्बन्ध होने पर भी वैराग्य बल से चित्त बाहरी विषयो की ओर नहीं जाता तथा उसमे सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढता का अभाव होता है।

३ विवेक—शुक्लध्यान मे शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान होता है।

४. व्युत्सर्ग—शुक्लध्यान की अवस्था मे देह और उपधि पर स्वभावत अनासक्ति हो जाती है।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन—

१ क्षमा—सहन-शीलता रखना, किसी के द्वारा परीषह उपसर्ग दिए जाने पर भी क्रोध को पैदा ही न होने देना, उत्पन्न हुए क्रोध को नम्रता से, विवेक से निष्फल बना डालना।

२. मार्दव—चित्त मे सुकोमलता और बाह्य व्यवहार मे नम्रवृत्ति का होना मार्दव है। अभिमान की सभी वृत्तियों का विनाश कर देना ही मार्दव है।

३. आर्जव—विचार, भाषण और व्यवहार की एकता ही आर्जव अर्थात् निष्कपटता है।

४ निर्लोभता—धर्म के साधन एव देह आदि पर भी असक्ति न रखना निर्लोभता है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाए—

१ अनन्तवृत्तिता—भव-परम्परा की अनन्तता का चिन्तन करना कि यह जीव अनादि काल से ससार मे चक्कर लगा रहा है, चार गतियो मे निरन्तर बिना विश्राम के परिभ्रमण करते-करते धर्म के अभिमुख नही हो पाता है। इस प्रकार का विचार करना।

२. विपरिणामानुप्रेक्षा—वस्तुओ के विविध परिणामों पर विचार करना कि सभी भौतिक-सामग्री अशाश्वत है, क्या यहां के और क्या देवलोक के कोई भी स्थान शाश्वत नही है।

३. अशुभानुप्रेक्षा—ससार की अशुभ पर्यायो का चिन्तन करना, जैसे कि एक अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति मर कर अपने ही कलेवर मे कृमि के रूप से उत्पन्न हो जाता है, यह है ससार की अशुभता।

४. अपायानुप्रेक्षा—विषय-कषायों से या राग-द्वेष से होने वाले दुष्परिणामो से जीवो को जो कुछ फल भोगना पड़ता है, वह अपायानुप्रेक्षा है।

ध्यान का स्वरूप, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा ये सब कर्मो के स्थिति-घात, रस-घात, कर्मों के प्रक्षय, संवर और निर्जरा, ये सब आत्मा के उत्थान, विकास एवं कल्याण के सफल साधन हैं। जो कार्य-सिद्धि स्थिर प्रकाश में हो सकती है, वह बादल की चंचल दामिनी के प्रकाश मे नहीं हो सकती। कोई काम यदि ध्यान से किया जाए वह अवश्य सफल होता है फिर दुःख-निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति क्यों न होगी ? योगो का संवरण ही ध्यान है और ध्यान है अन्तर्मुखी वृत्तियो की एकतानता। ●

२९. उदय मारणान्तिक

साधक को मारणान्तिक कष्ट आने पर भी समभाव रखना चाहिए। समभाव तभी मन मे रह सकता है जब कि हम सुखों की तरह दु खो का भी स्वागत करते रहे। दु ख और सुख दोनो हमारे अतिथि है। जो जिसका अतिथि है, वह उसी के घर मे ही तो जाएगा, वह अन्य किसी के घर मे नही जा सकता। एक का स्वागत तो हम सहर्ष करते है और दूसरे का स्वागत बिल्कुल ही नही करते। भला इस तरह करने से वह क्या हमारा पीछा छोड देगा ? ज्ञानी लोग सुख का स्वागत चाहे करे या न करे, किन्तु दु ख का सम्मान अवश्य करते है। दु ख से परिचय अवश्य ही बढाना चाहिए, क्योकि पहले से ही सावधान व्यक्ति को अकस्माद् आने वाले दु ख भयभीत नही कर सकते। दुखो का स्वागत सहनशीलता से होता है।

सहिष्णुता अर्थात् सहनशीलता दो प्रकार की होती है, एक तो कष्ट और विपत्ति मे स्थिर रहना सिखाती है, दूसरी निषिद्ध वस्तुओ से दूर रहकर ज्ञान कराती है। सहिष्णुता भी धर्म का एक अंग है, जिसको सहिष्णुता से प्रेम है वह उसे कभी छोड नही सकता, क्योकि प्रेम जीवन मे माधुर्य घोलता है और दुखो को हल्का भी करता है और साथ ही दु ख को सुख के रूप मे बदल देता है। तप करना, किसी की वैयावृत्य मे सलीन रहना, पैदल विहार

करना, सिर पर छाता न रखना, पैरो मे जूते न पहनना, निर्दोष भिक्षा लाना, मर्यादित वस्त्र रखना, अपना काम गृहस्थो से या दूसरो से न कराना, स्वावलम्बी बनना, केशलुंचन करना, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास को सहन करना। कायक्लेशतप करना, भीषण गर्मी मे भी पखा न करना, धूप की आतापना लेना, सर्दियो मे अधिक वस्त्रो का उपयोग न करना, ठंडी शिला पर लेटना, शरीर और उपकरणो की विभूषा न करना, मूढा, पलंग चारपाई आदि का प्रयोग न करना, विशेष कारण के विना उपाश्रय से वाहर न जाना, रोग एव आतक उत्पन्न होने पर सहनशक्ति से काम लेना, स्वाध्याय आदि के द्वारा शरीर को अपने वश मे रखना, अज्ञानियो के द्वारा दिए गए परीषह-उपसर्गों को सहन करना इत्यादि कारणों से दु ख सहते-सहते इतना प्रबल अभ्यास हो जाता है कि साधक मारणान्तिक कष्ट आने पर भी अपने परम लक्ष्य से विचलित नही होता। जो साधक सुखशील हैं, भौतिक सुखो के इच्छुक है, वे साधुता को भार ही समझते हैं।

सच्चा साधक प्रिय-धर्मी और दृढ धर्मी होता है। सुख के दिनो मे भी उन्हे धर्म प्रिय होता है और दुख के दिनो मे भी वे अपनी वृत्ति मे दृढ रहते है। **चय सोगमल्ल**—सुकुमारता का परित्याग करने पर ही वास्तविक अर्थो मे साधुता का पालन होता है, अत मारणान्तिक वेदना भी यदि शरीर मे पैदा हो जाए तो भी सयम-मर्यादा का उल्लघन न करे, सहन-शक्ति से उस वेदना को सहन करे, यही मुमुक्षु जन का परम कर्तव्य है।

३० संग-परित्याग

संग शब्द के यद्यपि अनेक अर्थ है, तथापि उनमें एक अर्थ मिलना और साथ रहना भी है।

सग दो प्रकार का होता है—सुसग और कुसग। साधक को सबसे पहले कुसग से बचना चाहिए। जिन की सगति से जीवन पतन की ओर जाए, ऐसे लोगो का सग वर्जनीय है। जैसे सभ्य मानव कीचड से अपने अगो को और वस्त्रो को सब तरह से बचाने का प्रयत्न करता है, कही भी किसी तरह वस्त्रो पर धब्बा नहीं लगने देता और न ही रहने देता है, इसी प्रकार साधक भी जीवन की चादर पर कुसग का धब्बा नही लगने देता। जीवन मे बुराइयो का प्रवेश कुसग से होता है, अत उससे बचने के लिए साधक निरन्तर यत्नशील रहता है। यदि गुलाब के पौधे को तेजाब से सींचेंगे तो वह सूख ही जाएगा और यदि उसे अच्छे पानी से सींचा जायगा तो वह फूलेगा, फलेगा, अत कुसंग तेजाब है और सुसंग पानी, जिनकी श्रद्धा-प्ररूपणा ठीक है, उन की सगति मे रहना और मिथ्या-दृष्टि एव असयतो से बचना, इन दोनो का एक साथ आश्रय ग्रहण करना ही कल्याण-प्रद है।

सग का एक अर्थ और भी है, वह है सासारिक विषयो मे अनुराग या आसक्ति रखना। पाच इन्द्रियो के पाच विषय है—शब्द,

रूप, रस, गंध और स्पर्श। इन्द्रियो के विषय अपने आप मे न शुभ है न अशुभ। उन्हे शुभ और अशुभ के रूप मे देखना और प्रयोग मे लाना जीवो की अपनी मनोवृत्ति पर निर्भर है। उदाहरण के रूप मे आखो का विषय रूप है अत आंखो का रूप की ओर जाना स्वाभाविक है। विषयी जीव जब किसी सुन्दर रूप को देखता है तो वह पागल होकर उसके चारो ओर भटकने लगता है, उसी रूप को जब एक दृढ निश्चयी साधक देखता है तो वह उस रूप के पीछे छिपे मल, मूत्र रक्त-मांस, मेदा, अस्थि आदि अशुचि पदार्थों को देखता हुआ 'भीतरी भगार भरी ऊपर ते कली है।' की भावना भाता हुआ उसी रूप को अशुभ समझ कर उससे विरक्त होकर आखे बन्द करके आत्म-अवस्थित हो जाता है। जो इन्द्रियों के विषय मिथ्यात्व, अज्ञान एवं असंयम के पोषक हैं, या राग-द्वेष के संवर्धक हैं, संयम-मर्यादा के शोषक हैं, वे सब सासारिक विषय कहलाते हैं, उनका संग वर्जनीय है। विषय और विषयों के सभी साधन मोह-वर्धक होने से परिवर्जनीय है, अतः पहले उन के स्वरूप और दुष्परिणामो को सम्यग्ज्ञान से जाने, फिर उनके संग का परित्याग करे। विषयो से परिचय न बढाए, उनको पाने के लिए कभी इच्छा न करे। यही संग-परित्याग है।

जो तीर्थङ्करो की दिव्य ध्वनि है, श्रमण-निर्ग्रन्थो के अन्तःकरण से निकले शब्द हैं, गुरु के मुखारविन्द से निकली आज्ञावाणी है, अथवा जिस शब्द को सुनकर मानसिक विकार शान्त हो जाए, ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो, वह शब्द सांसारिक विषय नही है। आगम-शास्त्रो का अवलोकन, श्रमण-निर्ग्रन्थो के दर्शन, निर्विकारता पूर्ण देखना, देव-दर्शन, उपकरणो की विधि-पूर्वक प्रति-लेखन करना, अहिंसा भाव से और शुभ ध्यान से

देखना सांसारिक विषय नही है। स्वाभाविक रूप से सुगन्ध का अनुभव हो जाना तथा समवसरण का सुगंधमय वातावरण भी सासारिक विषय नही है। जीने के लिए खाना उचित है, खाने के लिए जीना उचित नही, अनासक्त भाव से खान पान करना, प्रासुक निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करना सासारिक विषय नही है। विषयानन्द के लिए नही, जीवन-निर्वाह के लिए चौकी-पट्टा, भूमि, आसन, अकृत्रिम वायु आदि का उपयोग करना सासारिक सग नही कहा जा सकता।

३१. प्रायश्चित्त-करण

सस्कारो को तोडने का मुख्य उपाय है—प्रायश्चित्त-करण। अशुभ संस्कारो को तोडने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है—

१. कृत अपराधो को स्वीकार करना।
२ अपराध-जन्य दोष से मुक्त होने के लिए मन मे सच्ची भावना जागृत करना।
३ अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करना।

गुरुओ के समझाने से आपने अपराध स्वीकार कर लिया, उसे दूर करने की भावना भी हुई, बस अब पश्चात्ताप की कमी है। पश्चात्ताप का अर्थ है—अपने द्वारा किए किसी दुष्कृत कार्य के प्रति अपने को धिक्कारना ? मैंने यह कार्य किया ही क्यो ? इस तरह अपने दुष्कृती आत्मा की निन्दना करना, मैं वडा पापी हूं। इस तरह गर्हणा—आत्मग्लानि करना, "ऐसे दुष्कृत्य पुन कभी नही करूंगा" यह प्रण करना।

आत्मग्लानि ऐसी स्वाभाविक होनी चाहिए जैसी कि माता को अपने पुत्र को पीटने पर ग्लानि उत्पन्न होती है।

पश्चात्ताप कारण है और प्रायश्चित कार्य है। पश्चात्ताप किए विना प्रायश्चित्त नही किया जा सकता। जो स्वय आत्म-

प्रेरणा से किया जाता है वह पश्चात्ताप है और जो गुरु की साक्षी एव आज्ञा से किया जाए वह प्रायश्चित्त है । यद्यपि शुद्धीकरण की दृष्टि से आप अपने मकान, दुकान, उद्यान, श्मशान आदि में भी पश्चात्ताप एव प्रायश्चित्त कर सकते है, तथापि किसी ज्ञानी गभीर आचार्य के सामने प्रायश्चित करने की अधिक महत्ता है। ऐसा करने से वह दोप शीघ्र ही दूर हो जाता है। कारण कि किसी के सामने आलोचना करने से दोप की निवृत्ति वलपूर्वक होती है, जैसे किसी ने किसी की निन्दा की और उसी से जाकर कहना "मैंने आज आपकी निन्दा की थी, मैंने यह अपराध किया था यह कहना कठिन है। अपेक्षा इसके कि घर मे बैठकर विचार किया जाए, "आज मैंने अमुक की निन्दा करके वहुत वुरा किया है।"

एकान्त मे वैठे-वैठे पश्चात्ताप करना निन्दना है। जिसका अपराध किया है, उसके सामने अपनी भूल मानना और क्षमा याचना करना गर्हणा है। जिस दोप या पाप का संवध केवल अपने से है, दूसरे से नही, उसको किसी अनुभवशील ज्ञानी के सामने प्रकट करना आलोचना है। वैसा फिर न करना सच्चा प्रायश्चित्त है। जिस अपरावी के मन मे दोष या पाप के प्रति पश्चात्ताप नही होता, वह कभी प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार नही होता।

प्रायश्चित्त की तीन सीढिया है—आत्मग्लानि, दूसरी वार पाप न करने का निश्चय और आत्म-शुद्धि। ससार मे सभी को वह व्यक्ति अधिक प्रिय लगता है जो करता है, कहता नही। जो कहता तो है, किन्तु करता नही, वह सवको अप्रिय लगता है। अत कहना और न करना इस रीति को छोड़कर करना और न कहना, इसी मार्ग को अपनाना चाहिए।

पाप की पहचान ही मुक्ति-मार्ग का पहला पडाव है। जव

तक पाप या दोष की पहचान नहीं होती तब तक उसकी निवृत्ति के लिए कभी सोचा नही जा सकता । अत अपनी आलोचना और अपनी निन्दा मे रुचि का होना इस बात का प्रमाण है कि मैंने अपने घर की देखभाल करनी शुरू करदी है। निंदा दूसरे की नही, अपनी करनी चाहिए, अपनी भी नही दूषित आत्मा की करनी चाहिए। जो दूसरो के अवगुण बखानता है, वह वस्तुत अपना अवगुण प्रकट करता है। वही यह सिद्ध करता है कि "मैं दोष-दर्शी निन्दक हू।" सर्वोत्तम व्यक्ति वही है जो आत्मभाव मे रहता है। जो सबके गुण लेता है वह उत्तम है। जो गुणी के ही गुण लेता है वह मध्यम है। अधम वह है जो दोषी का दोष देखता है। जो निर्दोषी का भी दोष ही देखता है, वह अधमाधम है। अत. मानव के लिए भगवान ने यही कहा है कि दोष देखना हो तो अपना देखो, जिस से दोष दूर करने की वृत्ति पैदा हो और अहकार मिट कर नम्रता आये। अहभाव मे कोई भी साधक प्रायश्चित्त करने के लिए अपने आप को उद्यत नही करता, क्योकि विनीत व्यक्ति ही व्यक्तिगत और सामाजिक अनुशासन का पालन कर सकता है। अविनीत साधक साधना के क्षेत्र मे कही भी सफल नही हो सकता। विनीत साधक की दृष्टि अपने दोषो पर और दूसरो के गुणो पर रहती है।

प्रायश्चित्त—वह शास्त्रीय कृत्य प्रायश्चित कहलाता है जिस के करने से पाप या अपराध करनेवाले की पाप वृत्ति भविष्य के लिये छूट जाती है। प्रायश्चित्त दोष या अपराध से न न्यून होना चाहिए और न अधिक। प्रायश्चित्त देनेवाले को मध्यस्थ एव पक्षपात-रहित होना ज़रूरी है और द्वेषभाव से दिया हुआ अधिक प्रायश्चित्त भी अन्याय है। अनिच्छा से स्वीकार करना दंड है और इच्छा

पूर्वक स्वीकार करना प्रायश्चित्त है। कारावास, जुर्माना और काय परिक्लेश अर्थात् सजा सरकार देती है और प्रायश्चित्त गुरु देते है। दण्ड से दण्डनीय का सुधार हो या न भी हो, किन्तु प्रायश्चित्त से अन्त करण की शुद्धि अवश्य होती है। प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं, जैसे कि—आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय प्रायश्चित्त, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल और अनवस्थाप्य इनका विवरण इस प्रकार है।

१ **आलोचना**—मूलगुण मे या उत्तरगुण मे लगे हुए दोष की निवृत्ति के लिये गुरु के समक्ष निष्कपट हृदय से आलोचना करना प्रायश्चित्त है। जिस दोष की निवृत्ति आलोचना करने मात्र से हो जाए उसे आलोचना कहते है। अपनी भूल या गलती को पश्चात्ताप पूर्वक कहना ही इसका प्रयोजन है। इससे आत्मशुद्धि होती है और पुन: दोष न करने की वृत्ति जागृत होती है।

२ **प्रतिक्रमण**—जिस दोष की निवृत्ति प्रतिक्रमण करने से हो जाए उसके अनन्तर आलोचना करने की आवश्यकता न पडे, उस प्रायश्चित्त को प्रतिक्रमण कहते हैं। **'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं"** कहते हुए दोषी जीवन से लौट कर अपने साधक जीवन मे आना प्रतिक्रमण है।

३ **उभयप्रायश्चित्त**—जिस दोष की निवृत्ति आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो से हो वह उभय प्रायश्चित्त कहलाता है।

४. **विवेक**—शय्यातरपिण्ड, अप्रासुक, अनेषणीय, अकल्पनीय आहर-पानी सेवन करने का त्याग करना, अथवा 'भविष्य मे मुझ से ऐसी भूल नही होगी, या अब मैं भूलकर भी ऐसी भूल नही करूंगा" इस प्रकार की प्रतिज्ञा का मूल विवेक है, अत. इसे विवेक-प्रायश्चित्त कहा जाता है।

५. **व्युत्सर्ग**—कायोत्सर्ग करना, इन्द्रिय-चेष्टाओ को रोक

कर मन को किसी ध्येय विशेष पर केन्द्रित करना, जप मे या पाठ मे उपयोग लगाना, जैसे 'इर्यावही' का या "लोगस्सुज्जोयगरे" पाठ का यथासभव अधिकाधिक ध्यान करना व्युत्सर्ग-प्रायश्चित्त है।

६. तप—तप दो उद्देश्यों से किया जाता है—एक आत्म-शुद्धि के लिए और दूसरा दोष-निवृत्ति के लिए। जिस दोष की निवृत्ति तप करने से ही हो, अन्य किसी साधारण प्रायश्चित्त से न हो सके, वह तप प्रायश्चित्त है। नवकारसी, पौरुषी, दोपौरुषी, एकाशना, एकलट्ठाण, रस परित्याग, आयबिल, उपवास, वेला, तेला आदि तपो के द्वारा दोषो की निवृत्ति करना ही तप-प्रायश्चित्त है।

७. छेद—साधक के जिस दोष की निवृत्ति साधारण तप से न हो सकती हो और प्रबल तप करने की शक्ति भी उसमे न हो, तब उसे छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है, अर्थात् उसकी दीक्षापर्याय का छेद कर दिया जाता है। इससे जो ज्येष्ठ है वह कनिष्ठ बन जाता है और कनिष्ठ ज्येष्ठ बन जाता है। अथवा छेद प्रायश्चित्त लेने वाले के साथ जीवनभर के लिए कनिष्ठ सन्तों द्वारा ज्येष्ठ होते हुए भी कनिष्ठ जैसा व्यवहार किया जाता है, इसे ही छेद प्रायश्चित्त कहा जाता है।

८. मूल—यह वह प्रायश्चित्त है जिसके करने पर साधु को एक बार लिया हुआ सयम छोड़ कर पुन दीक्षा लेनी पड़ती है, किसी महाव्रत के सर्वथा भग होने पर इस प्रायश्चित्त का विधान है।

९ अनवस्थाप्य—दोष-निवृत्ति के लिये विशिष्ट तप करने के बाद ही दुबारा दीक्षा ग्रहण करने को अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त कहा जाता है।

यद्यपि दोषो की कोई गणना नही की जा सकती, वे अनगिनत हैं, तथापि उन सबको चार भागो मे विभक्त किया जा

सकता है जैसे कि—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। वस्तुत ये चार दोषो को परखने के मापदड है। अबोध अवस्था मे साधक के ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप मे जो विपय-कपाय तथा राग-द्वेप के वशीभूत होकर प्रमाद आदि के कारण दोप लगा है वह अनुभव के आधार से परखा जाता है। प्रत्येक दोप के चार-चार स्तर होते है, यह किस स्तर का दोप है ? उसे परख कर जिस स्तर का दोष हो उसकी निवृत्ति उसी स्तर के प्रायश्चित्त से की जाती है। प्रायश्चित्त-विधान का विज्ञ मुनीश्वर ही जान सकता है कि यह दोप किस प्रायश्चित्त से निवृत्त हो सकता है ? जिस से साधक के मन मे सयम-विपयक उत्साह भी वना रहे और दोष भी निवृत्त हो जाए। वह दोष-स्तर या मापदड चार प्रकार का होता है जैसे—राजनीति के दण्डविधान मे न्यायाधीश भी अपराध के स्तर को देखकर उसी के आधार पर अपराधी को दड देता है, सबसे पहले किसी व्यक्ति के मन मे मारने के सकल्प पैदा होते हैं, उसके बाद उसे मारने के लिए जिन उपायो से मारा जा सकता है उन उपायो या साधनो को जुटाने का प्रयास करना, तत्पश्चात् मारने के सकल्प से लेकर प्रहार करने तक सभी चेष्टाओ को तीसरे स्तर मे मानते हैं, प्राण-हत्या हो जाने के अनन्तर प्राणदड, आजीवन कारावास, स्वदेशनिष्कासन इत्यादि कठोर दड दिये जाते हैं। प्राणदण्ड, आजीवन कारावास और देश-निकाला ये तीनो दण्ड दोष के स्तर पर ही आधारित होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी साधक के दोप स्तर को देखकर उसे प्रायश्चित्त दिया जाता है। दोष-स्तर की परख निम्नलिखित चार रूपो मे की जाती है—

१. **अतिक्रम**—जब किसी साधक के मन मे गुरुजनो की आज्ञा एव सघ-मर्यादा के विरुद्ध सकल्प पैदा होते है, वही से दोपो

का अवतरण प्रारम्भ हो जाता है, यही दोष-प्रवृत्ति का प्रथम स्तर है जिसे अतिक्रम कहा जाता है।

२ व्यतिक्रम—किसी मूलगुण या उत्तर गुणो को दूषित करने के लिए कोई विधि या युक्ति सोचना और उन्हे दूषित करने के लिए सामग्री जुटाने की योजना बनाना व्यतिक्रम है। यही दोषी के दोषो का द्वितीय स्तर है।

३ अतिचार—सोची हुई योजना के अनुसार अपराध करने के लिए कार्यक्रम मे जुट जाना अतिचार है। इसके मुख्यतया चार भेद है। पहला स्तर, दूसरा स्तर, तीसरा स्तर और चौथा स्तर। एक वह है जो व्यतिक्रम के निकट है और चौथा अनाचार के निकट है। इन भागो मे से किसी भी भाग मे पहुंचा हुआ दोष उत्तर-उत्तर व्रतो को क्षति ग्रस्त कर देता है, किन्तु बिल्कुल नष्ट नही करता। यही तीसरा स्तर है जिसके आधार पर प्रायश्चित्त का निर्धारण किया जाता है।

४ **अनाचार**—जब प्रबल दोष से व्रत या मर्यादा पूर्णतया ही भग हो जाए, बिल्कुल ही मुर्दा हो जाए, तब उस दोष को अनाचार कहते हैं। अनाचार मे व्रत का कुछ भी अश शेष नही रह जाता, यह चौथा स्तर है दोष प्रवृत्ति का, जिसके लिये अधिकाधिक दण्ड अपेक्षित है।

न्याय स्वपक्ष-विपक्ष से दूर रहकर ही किया जाता है। दूषितात्मा की शुद्धि हो जाए और सामाजिक वातावरण भी शान्त बना रहे वैसा न्याय करना चाहिए। निरपराधी को दडित न किया जाए और अपराधी को सुधार की दृष्टि से यथासम्भव दण्डित किया जाना ही चाहिये, श्रेष्ठजनो की रक्षा करना न्याय है। न्याय भी अहिसा का ही दूसरा रूप है। न्याय से ही मानवता की रक्षा

होती है। मानवता का स्तर नीचे न गिरने देना ही न्याय का मुख्य उद्देश्य है।

अहिंसा को लक्ष्य मे रखकर प्रायश्चित्त दिया जाता है और आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता है। यद्यपि प्रायश्चित्त के भी अनेक रूप हैं, तथापि जीवन-शुद्धि की दृष्टि से वे सब एक है। हितबुद्धि द्वारा की हुई दण्डव्यवस्था से यदि किसी को दु खानुभूति भी हो वह अशुभकर्मों का कारण नही हो सकती, क्योंकि दण्डित करते समय गुरुजनो के भाव, दु.ख देने के नही होते।-साधु या साध्वी दूसरे साधक का केशलुचन भी करते है, पैर से काटा भी निकालते हैं, स्वस्थ करने की इच्छा से फोडे आदि को दबा कर पीप भी निकाल देते हैं, जिससे रोगी को पीडा भी होती है, किन्तु उसे हिंसा नही कहा जा सकता। विधि-मार्ग मे या निषेधमार्ग मे प्रवृत्त कराते हुए शिष्य का मन दुखित भी हो जाए तो भी गुरु का अहिंसा व्रत दूषित नही होता। वैसे ही प्रायश्चित्त देते हुए भी आचार्य पाप-कर्म का बध नही करता, क्योकि अपने कर्त्तव्य का पालन करना भी न्यायोचित है।

प्रायश्चित्त देते समय गुरु जनो को भी यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस स्तर का दोष हो उसकी निवृत्ति उसी स्तर के प्रायश्चित्त से की जाए, अत दोषावस्था मे साधक के लिए प्रायश्चित्त अत्यावश्यक है। प्रमत्त अवस्था मे दोष यदा-कदा लग ही जाता है। प्रायश्चित्त के बिना दोषो की निवृत्ति नहीं हो सकती। प्रायश्चित्ती-करण भी साधना का एक प्रमुखतम अङ्ग है।

❋❋
❋❋

३२. मारणान्तिक आराधना

अभी तक जिन इकत्तीस योगों का विवेचन किया गया है वे सब साधना-मय जीवन के लिये उपयोगी हैं, परन्तु जीवन के साथ मरण का भी तो अटूट सम्बन्ध है, उसे किसी भी तरह तोड़ा नही जा सकता। प्रत्येक साधक को एक न एक दिन मृत्यु मे अवश्य जूझना पडता है। अत अब मारणांतिक आराधना के रूप में अहिंसा-व्रती साधक मृत्यु पर कैसे विजय प्राप्त करे ? इस विषय का विवेचन किया जाता है।

सयम एव तप की उत्कर्षता से कषायो एवं शरीर को कृश करना सलेखना है। यदि जीवन एक कला है तो मरण भी एक कला ही है। जिसको जीने की कला नही आती, उसे मरने की कला भी नही आ सकती।

पहले के इकत्तीस साधन चारित्र का निर्माण करके जीने की कला सिखाते हैं, किन्तु जीवन की जितनी भी कलाए है, उन सब मे मरण-कला चूलिका के समान है या माला मे सुमेरु के समान है। इसी कला के सौन्दर्य का निर्माण करने के लिये उसमे आनन्द भरने के लिये उपर्युक्त इकत्तीस जीवनकला के साधन बताए गए हैं। यह कला कपायो की मदता एवं क्षीणता से आती है, सिद्धि या प्रसिद्धि से नही।

मारणान्तिक आराधना की भूमिका ही सलेखना है। काल की अपेक्षा से सलेखना तीन प्रकार की होती है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य छह मास का काल, मध्यम एक वर्ष का काल और उत्कृष्ट बारह वर्ष का काल सलेखना-काल है।

बारह वर्ष के सलेखना-काल का क्रम इस प्रकार है—सलेखना करनेवाला साधक सर्व प्रथम चार वर्षों मे रस-परित्याग तप अर्थात् आयबिल करे। मध्य के चार वर्षों मे उपवास बेला, तेला आदि विविध विध तप करता रहे, फिर दो साल तक एकान्तर तप करे। पारणे के दिन आयबिल करे। उसके बाद ग्यारहवे वर्ष के पूर्वार्द्ध मे छह महीने तक बेला, तेला, चौला आदि तप न करे, किन्तु उत्तरार्द्ध के छह महीनो मे तेला, चौला आदि उत्कृष्ट विविध तपो की आराधना करे। इस पूरे वर्ष मे पारणे के दिन आयबिल करे, बारहवे वर्ष मे निरन्तर आयबिल करे। जब आयु एक महीने की या एक पक्ष की रह जाए तब पूर्णतया अनशन करे। (उत्तरा० अ० ३६। गा० २५१ से लेकर २५५ तक)।

आमरण अनशन का प्रागभ्यास या पूर्वाभ्यास ही सलेखना है। प्रागभ्यास की सफलता ही सथारे की सफलता है। इस प्रक्रिया को ही मारणातिक आराधना कहते हैं। कषाय भाव का अत करने के लिए, मोह-ममत्व के इधर-उधर फैलते हुए जाल का छेदन करने के लिए या उन्मूलन करने के लिए सथारा किया जाता है। इतना ही नही, जीवन के निर्वाहक और पोषक तत्त्वो को घटाते हुए सभी विकारो को मद या क्षीण करना ही सलेखना है। यह सलेखना-व्रत वर्तमान शरीर का अत होने तक लिया जाता है। इस व्रत की आराधना गृहस्थ और साधु दोनो कर सकते हैं।

शका हो सकती है कि अनशन के द्वारा शरीर का अन्त करना

तो स्पष्ट रूप से आत्महत्या है ? फिर इसको व्रत मानकर त्याग-धर्म मे स्थान देना कहा तक उचित है ?

इस शका के समाधान मे यह दृढ़ता से कहा जा सकता है कि अनशन देखने मे भले ही दु:खकारी या प्राणनाशक प्रतीत होता हो, किन्तु सलेखना व्रत मे प्राणनाश तो होता ही है, किन्तु वह हिंसा की कोटि में नही माना जा सकता, क्योंकि अनशन मे राग-द्वेष, मोह आदि विकार नही होते, जबकि आत्महत्या या परहत्या राग-द्वेष, क्रोध, मान आदि विकारो के बिना नही हो सकती। इस व्रत से तो साधक शुद्ध ध्यान की उपलब्धि करता है क्योंकि संलेखना तो त्याग-प्रधान धर्म है। धर्म के साथ जीना और धर्म के साथ मरना यही जैन सस्कृति का मुख्य ध्येय है। जब देह का अत निश्चित रूप से जान पड़े, तब मरणभय से सर्वथा मुक्त होकर दुर्ध्यान से निवृत्त होकर, सयम और तप की विशिष्ट आराधना के लिए इस व्रत को विधेय माना गया है।

आचाराङ्ग-सूत्र मे बताया गया है कि जब मुनि को यह अनुभव हो कि मैं इस शरीर को धारण करने मे बिल्कुल असमर्थ हो रहा हूं, उसे देहपात का ज्ञान हो जाए, तब वह क्रम से आहार का सकोच करे, शरीर को एव कषायो को तपस्या से कृश करे। जिस मुनि का चारित्र निरतिचार रूप से पल रहा हो, सलेखना कराने वाले आचार्य भी सुलभ हो, दुर्भिक्ष आदि का भय भी न हो, किन्तु उसे देहपात का ज्ञान नहीं, तब वह सथारे का अधिकारी नही माना जा सकता। यदि किसी विशिष्ट कारण से वह सथारा करना चाहता है तो मानना पडेगा कि चारित्र की कठिनता से या किसी अन्य कारण से उसका चित्त खिन्न है और वह खिन्नता के आवेग मे प्राणो को त्याग करना चाहता है। ऐसा प्राण-त्याग जैन सस्कृति को इष्ट नही है।

जैन सस्कृति का यह उद्घोष है कि सिंह वृत्ति वाले निर्भीक मुनि मृत्यु-काल का ज्ञान प्राप्त करते ही अपने विशुद्धतर चारित्र, अपने सम्यग् ज्ञान एव अपनी उग्रतर तपस्या के द्वारा निर्भीक होकर अपनी आखो से पौद्गलिक शरीर और मृत्यु के खेल को मुस्कराते हुए देखता है, वह मरने के लिये नही मरता, अपितु मृत्यु का खेल देखने के लिये अपने शरीर को मृत्यु के अर्पित करता है। उसे उस समय वही आनन्द आता है, जो किसी वस्त्र-प्रिय व्यक्ति को पुराने वस्त्र त्याग कर नए वस्त्र धारण करते समय आता है। अत सल्लेखना पूर्वक सथारा आत्महत्या नही किन्तु मुनि-जीवन की साधना का एक विशिष्टतम अग है।

मरने के तीन रूप—

किसी विशिष्ट सासारिक कारण से विवश होकर स्वय अपने प्राणो का नाश करना आत्महत्या है। आत्महत्या के अनेको ही भेद है जैसे कि जलकर मरना, डूबकर मरना, फासी लेकर मरना, विष खाकर मरना, बिजली के करण्ट से मरना, ट्रेन आदि से कटकर मरना, गोली खाकर मरना इत्यादि सब आत्महत्या के भेद हैं। इस विधि से मरने वाले को जैन सस्कृति प्रशसनीय नही समझती। उसका कहना है कि दूसरे की हिंसा जैसे पाप की जननी है, वसे ही आत्महत्या भी पाप है, क्योंकि प्रमत्त योग से प्राणो का अतिपात करना ही पाप है।

दूसरे के द्वारा मारे जाने की सभावना होने पर उनकी निवृत्ति के लिये सागारी सथारा भी किया जा सकता है।

यदि किसी को यह ज्ञात हो जाए कि मेरा मरण-काल निकटतम है तो मुझे अब मोह ममत्व से निवृत्त होकर सलेखना एव सथारे द्वारा मृत्यु का स्वागत करना चाहिए ताकि मारणा-

न्तिक आराधना हो पाए, तभी मै आराधक बन सकूगा इस उद्देश्य को लेकर शुद्ध भाव से सथारा किया जाता है।

मरण-काल को जानने के अनेक उपाय है। पाठकों की जानकारी के लिए कुछ एक उपाय प्रदर्शित किए जाते है—

१. किसी विशिष्ट ज्ञानी के कहने से मरण-काल का ज्ञान होता है।

२. किसी सुअवसर पर देव दर्शन करने के अनन्तर देव-वाणी से भी मृत्यु काल का ज्ञान हो जाता है।

३ मृत्यु-सूचक किसी स्वप्न द्वारा भी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

४ जन्म कुण्डली मे किसी विशिष्ट योग से भी आयु की पूर्णता का ज्ञान हो सकता है।

५ किसी शकुन या अपशकुन से भी मरण-काल का ज्ञान हो सकता है।

६ अपने ही परिपक्व अनुभव ज्ञान से भी अपनी मृत्यु का ज्ञान हो सकता है।

७ अपने दाहिने हाथ को नाक की सीध मे सिर पर रखकर कलाई को देखना चाहिये, यदि कलाई पतली दीखे तो उत्तम है, यदि बीच से छिन्न होकर दीखे तो मरण-काल निकट समझना चाहिये।

८ आखे बन्द करने पर जो प्रकाश दिखाई देता है, यदि वह न दिखाई दे, तो मरणकाल निकट समझना चाहिये।

९ नाक के अग्र भाग को प्रतिदिन देखना चाहिये। जब

वह दिखाई देना बद हो जाय तो भी मृत्यु-समय निकट जानना चाहिये।

मृत्यु दो तरह की होती है, ज्ञान-पूर्वक मृत्यु और अज्ञान-पूर्वक मृत्यु। सलेखना एव सथारे के साथ मृत्यु का होना ज्ञान-पूर्वक है। राग-द्वेष के साथ पाप-कर्मो का आचरण करते हुए काल-धर्म को प्राप्त होना अज्ञान-मरण है। अज्ञान-मरण से दु खो की परम्परा लम्वी हो जाती है और ज्ञानपूर्वक मरण से ससार-यात्रा वहुत ही कम रह जाती है। जव तक किसी साधक को अपने मरणकाल का कोई ज्ञान नही है तव तक उसे सथारा करने की आज्ञा नही है, मृत्यु-समय का ज्ञान होने पर अन्त समय मे मानव-जन्म प्राप्त होने का पूर्णतया लाभ उठाने की भावना को साकार वनाने के लिए सथारा करना आवश्यक है।

सथारे में करणीय नियम—

सथारे मे चार वातो का त्याग होता है- आहार, शरीर, उपधि और पाप। इन चारो का त्याग तीन करण और तीन योग से किया जाता है।

सथारा करने के दो मार्ग हैं श्रावक-मार्ग और साधु-मार्ग। सथारा आगार सहित भी किया जाता है और आगार के विना भी। जो आगार-सहित किया जाता है, वह देव-सबन्धी, मनुष्य-सम्वन्धी और तिर्यञ्च सवन्धी किसी उपसर्ग के उपस्थित होने पर किया जाता है। सागारी सथारा करने मे विकल्प होते है। यदि इस उपसर्ग से मेरा मरण हो जाए तो जीवन भर के लिए, यदि वचाव हो जाए, उपसर्ग टल जाए तो मै पारणा कर लूगा। यदि आगार-रहित सथारा किया गया है तो जीवन भर के लिए ही

किया जाता है, उसकी पूर्णता मृत्यु होने पर ही होती है।

आहार त्याग—आहार चार प्रकार का होता है—असण, पाण खाइम, साइम। आर्य मनुष्य जब भी आहार करते हैं, वे उपर्युक्त चार प्रकार का ही आहार करते हैं। सथारे मे इन सब का परित्याग जीवन भर के लिए किया जाता है।

शरीर-त्याग—शरीर हर प्राणी को प्रिय है। सभी घातक पदार्थों एव हिंसक जन्तुओ मे मानव अपने शरीर को सुरक्षित रखना चाहता है। इसकी रक्षा के लिए सब तरह के उपचार किए जाते हैं और धन को पानी की तरह बहा दिया जाता है। किन्तु सथारे मे उस शरीर को मुस्कराते हुए मृत्यु को अर्पित कर दिया जाता है, क्योकि साधक अपने शरीर से मोह-ममत्व को हटा लेता है।

उपधि-त्याग—जीवन-निर्वाह के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता मानव को रहती है उन सबको उपधि या उपकरण कहते हैं। जब साधक अपने शरीर पर भी मोह-ममत्व नहीं रहने देता, उसका परित्याग करने को प्रस्तुत हो जाता है, तब उपधि का परित्याग तो स्वत ही हो जाता है। जो अपने शरीर पर भी ममत्व बुद्धि नही रखता, वह बाहर की वस्तुओ पर ममत्व क्यो रखने लगा ? अत सथारे मे उपधि का भी त्याग स्वत हो जाता है।

पाप-त्याग—जो कर्म या क्रिया मन को या आत्मा को मलिन करे, अथवा जो जीव को दुर्गति का अतिथि बनाए, वह पाप है। पाप अठारह प्रकार का होता है। उन सबसे निवृत्त होना सथारे मे परमावश्यक है। जैसे कि—

१ प्राणातिपात-विरमण—मै जीवन भर के लिए किसी के प्राणो का अपहरण नही करूगा, भले ही वह जन्तु छोटा हो या वडा, त्रस हो या स्थावर, अपराधी हो या निरपराधी, शत्रु हो या मित्र, मानव हो या मानवेतर, आर्य हो या अनार्य, सव को अपनत्व दृष्टि से, दिव्य दृष्टि से या समान दृष्टि से देखूगा। उपसर्ग देने वाले को भी दिव्य दृष्टि एव शान्त दृष्टि से देखना किसी का भी मन मे वुरा चिन्तन न करना, प्राणातिपात-विरमण व्रत है।

२ मृषावाद-विरमण—सभी प्रकार के छोटे-वडे झूठ से विरक्त होना, न अपने लिए झूठ बोलना, न दूसरे के लिए झूठ बोलना और न उभय पक्ष मे झूठ बोलना, असत्य से अपने आप को हटाकर सत्य के अखड प्रकाश मे लाना मृषावाद विरमण है।

३. अदत्ता-दान-विरमण—चोरी के छोटे-वडे सभी भेदो से अपने को पूर्णतया मुक्त करना। भला जो अपने पास रही हुई उपधि का भी त्याग करता है, वह दूसरे की उपधि पर ललचाय-मान होकर उसे ग्रहण करने का प्रयास क्यो करेगा ?

४ मैथुन-विरमण—सव प्रकार के छोटे-वडे मैथुन के भेदो से विरक्त होना। जव आहार और शरीर का सर्वथा त्याग कर दिया जाय तव मैथुन मे प्रवृत्ति हो ही नही सकती ?

५. परिग्रह-विरमण—सव प्रकार के जड-चेतन पदार्थो, स्व-जनो एव परिजनो के ऊपर मोह का त्याग करना। परिमाण में और मूल्य मे छोटा या वडा किसी भी प्रकार का परिग्रह न रखना या किसी पर मोह-ममत्व न रखना परिग्रह-विरमण कहलाता है।

भला जिसने उपधि रखने का ही त्याग कर दिया, वह परिग्रह के पचडे मे क्यो पडने लगा ?

६ क्रोध-विवेक—हिंसा झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाच कारणो से क्रोध उत्पन्न होता है। जिसके जीवन से ये पाचो पाप निकल गए है, उसे क्रोध उत्पन्न होने का कभी अवसर ही प्राप्त नही होता। जब आहार, शरीर और उपधि का ही त्याग कर दिया, तब क्रोध की उत्पत्ति का तो अवसर ही समाप्त हो जाता है।

७. अभिमान-विवेक—जिन - जिन कारणो के होते हुए अभिमान की सत्ता बनी रहती है, उन-उन कारणो के हट जाने से अभिमान भी सदा के लिए लुप्त हो जाता है।

८. माया-विवेक—हिंसा करते हुए कपट किया जाता है, झूठ बोलते हुए, चोरी करते हुए, दुराचार की ओर बढते हुए तथा परिग्रह के निमित्त से प्राणी कपट करता है। कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव हो जाता है। माया चाहे सासारिक हो या धार्मिक, माया के दोनो रूप वर्जित है।

९. लोभ-विवेक—जिसने आहार, शरीर और उपधि का त्याग कर दिया है। उसके हृदय मे लोभ पैदा ही नही हो सकता, क्योकि भौतिक पदार्थो के लाभ से लोभ बढता है। ममत्व के त्याग और समत्व की प्राप्ति से लोभ समाप्त हो जाता है।

१० राग-विवेक—काम-राग, स्नेह-राग और दृष्टि-राग, ये तीन राग अप्रशस्त हैं। केवल धर्मराग ही प्रशस्त है। धर्मराग को दूसरे शब्दो मे धर्म-श्रद्धा भी कह सकते है। सथारे मे एक धर्म-राग ही रह जाता है, शेष सब राग लुप्त हो जाते हैं।

११. द्वेष-विवेक— राग प्रकृति के निवृत्त होने से जीव पर से द्वेष की छाया स्वतः ही हट जाती है। जब किसी पर राग होता है, तभी दूसरे पर द्वेष होता है। जब राग ही नही रहा तो द्वेष का उद्‌भव कहा हो पाएगा ?

१२ कलह-विवेक— जब क्रोध और द्वेष पर नियन्त्रण हो गया तो कलह-क्लेश तो स्वत ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार लडाई-झगड़े का त्याग भी सथारे मे स्वत ही हो जाता है।

१३ अभ्याख्यान-विवेक—जिसने झूठ का त्याग कर दिया, वह किसी पर झूठा आरोप क्यो लगाने लगा ? सथारे मे सब प्राणियो के प्रति समता होती है। असत्यारोप लगाया जाता है विषमता मे, जब हृदय से वैषम्य ही चला गया तो फिर आरोप-प्रत्यारोप कैसे ?

१४. पैशुन्य-विवेक—पीठ पीछे निन्दा करना, चुगल खोरी, मुखबरी करना पैशुन्य है।

१५ परपरिवाद— सथारे के लिये प्रस्तुत शुद्ध हृदय मे किसी की चुगली या निन्दा का भाव उदित ही नही होता। सथारे मे साधक परम शान्ति का अनुभव करता है। जहा सब जीवो पर मैत्रीभाव हो जाए, वहा इन पापो का प्रवेश होता ही नही है।

रति-अरति-विवेक—असयम मे प्रवृत्ति, प्रीति तथा मन की दौड को रति कहते है और सयम मे प्रीति का न होना, उपेक्षा भाव का होना अरति है। रति और अरति का उदय कषाय भाव से होता है, जब कषाय ही नही, तब साधक हृदय से इस पाप का भी निराकरण स्वत हो जाता है।

१७. माया-मृषा-विवेक—दूसरे और आठवें पाप का मिश्रण

ही माया-मृषा है। इसका अर्थ है कपट पूर्वक झूठ बोलना। जब भी कपट और झूठ दोनो का त्याग हो गया, तब इस पाप की निवृत्ति स्वय हो जाती है। सथारा करने वाले के हृदय मे कपट के भाव आते ही नही है।

१८ मिथ्या-दर्शन-शल्य-विवेक—जिसकी श्रद्धा या विचार मिथ्या एव गलत हो वह सथारा करता ही नही, उसमे सथारे के प्रति प्रीति, रुचि होती ही नही, अत वह मिथ्यात्व-अनुरजित विचारो को मन मे नही आने देता। सम्यग्दृष्टि मे तत्व से विपरीत श्रद्धा होती ही नही। सथारे में धर्म की साधना विशेष रूप से की जाती है। अत इस पाप की निवृत्ति भी स्वय हो जाती है।

आहार, शरीर, उपधि और अठारह तरह के पापो की निवृत्ति, ससार से विरक्ति और हृदय मे विवेक का होना ही सथारा कहलाता है। संथारा जीवन का परमोत्कर्ष है, सथारा विचार और आचार का परिपक्व फल है। संथारा आराधक बनाने का अमोघ साधन है। सथारा परमपद को पाने का सीधा मार्ग है, सथारा त्याग की चरम सीमा है। सथारा कर्मजाल से मुक्त होने का सफल उपाय है। सथारा सब तरह की इच्छाओ से निवृत्ति होने का राजमार्ग है। सथारा सब तरह के दु खो से छूटने का श्रेष्ठ साधन है। सथारा अपूर्ण से पूर्ण बनने का, आत्मा से परमात्मा बनने का उत्तम साधन है।

साधु के तीन मनोरथ—

साधु सर्वदा यही सोचता है कि कब वह सुअवसर प्राप्त हो, जब मैं जिन-वाणी का थोड़ा या बहुत अध्ययन करू। इससे

श्रुतज्ञान की विशिष्टता और उपयोगिता सिद्ध होती है। साधु के मन मे श्रुत-अध्ययन की अभिरुचि सदैव बनी रहनी चाहिए, तभी वह साधना के क्षेत्र मे विजयी एव सफल हो सकता है। ऐसी भावना रखता हुआ यदि साधु मन मे, वाणी से और काय से करता है, तो वह महानिर्जरा एव कर्मो का महा पर्यवसान करता है।

दूसरा मनोरथ है धन्य होगा वह दिन, जब मैं राग-द्वेप से अलग होकर और आठ गुणो से युक्त होकर स्थविर-कल्पी से जिन कल्पी और जिन-कल्पी से कल्पातीत बनकर एकल्ल विहार प्रतिमा को अगीकार कर विचरण करू गा ? ऐसी भावना रखता हुआ साधु कर्मो की महानिर्जरा एव महापर्यवसान करके अपने मनोरथ को सिद्ध करता है। स्थविर-कल्पी साधु को इस स्वर्णिम अवसर की प्रतीक्षा अवश्य करनी चाहिए। इस भावना को पूर्ण करने के लिए उसे सतत अभ्यास करते रहना चाहिये।

साधु का तीसरा मनोरथ है—वह दिन मेरे लिये धन्य एवं कल्याणकारी होगा, जब मैं जीवन की अन्तिम घड़ी को विधिपूर्वक सब प्रकार से आहार का, शरीर का, उपधि का तथा पापो का परित्याग कर समाधिपूर्वक पादोपगमन सथारा करके आयु के अन्तिम क्षणो मे शरीर-त्याग का दृश्य देखू गा। इस मनोरथ को पूर्ण करने के लिये मन, वाणी और काय से नित्यप्रति सथारा करने का अभ्यास करते हुए, मन से भावना भाए, वाणी से सथारे की प्रक्रिया का समर्थन करे और काय से कुछ क्षणो तक सथारे का अभ्यास करता रहे। इस से भी साधु कर्मो की महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है।

श्रमणोपासक के तीन मनोरथ[1]—

1. स्थानाङ्ग सूत्र का स्थान ३, उद्देशक ४।

श्रावक सर्वदा यह चिन्तन करे कि कब वह स्वर्णिम अवसर प्राप्त होगा जब कि मैं न्यायोपार्जित परिग्रह को थोडा बहुत श्रुत-सेवा मे, प्रवचन-प्रभावना मे, सहधर्मी-वत्सलता मे, निर्धनो की सहायता मे खर्च करू, दान मे लगाता रहूं। जिस द्रव्य पर से ममत्व-बुद्धि उठ जाती है, वही द्रव्य दान मे दिया जा सकता है। इस मनोरथ को पूर्ण करने के लिये मैं यथाशक्य नित्यप्रति सचित धन का अधिकाधिक शुभ कार्य मे दान करता रहूगा। मन मे उदारता होगी, वाणी मे प्रीति, सम्मान होगा, काय मे दान देने की शक्ति एव व्यवहार होगा। ऐसी भावना भाने वाला श्रावक भी कर्मो की महानिर्जरा एवं महापर्यवसान करता है।

उसका दूसरा मनोरथ है—कब मैं गृहवास का परित्याग करके सत्ताईस गुणो से सम्पन्न होकर साधुवृत्ति को ग्रहण करूगा। साधक को साधना मे आगे बढने की भावना कभी भी नही छोडनी चाहिए। यदि किसी कारणवश आगे न बढ सके तो भावना में दीनवृत्ति भी नही आने देनी चाहिए। इस मनोरथ से भी श्रावक महानिर्जरा एवं कर्मों का महापर्यवसान करता है।

उसका तीसरा मनोरथ है—कब मैं पादपोपगमन सथारा करके समाधिपूर्वक अपनी आयु के अन्तिम क्षणो को सफल बनाता हुआ तथा काल की आकाक्षा न करता हुआ, धर्मसाधना मे विचरण करूगा। सथारा किए जाने पर भी मृत्यु की इच्छा न रखना यह जैन सस्कृति की महती विशेषता है। इस मनोरथ की सिद्धि के लिये श्रावक मन से, वचन से और काय से नित्यप्रति अभ्यास करे इस से वह कर्मो की महानिर्जरा एव महापर्यवसान करता है।

महापर्यवसान का अर्थ है भवपरम्परा की या अशुभ कर्मो

की महाराशि का अन्त करना। जब तक कर्मों की निर्जरा अनन्त गुणा नही होती, तब तक उनका अन्त या महापर्यवसान भी नही होता।

मरण-भेद

स्थानाङ्ग सूत्र के दूसरे स्थान के चतुर्थ उद्देशक मे बारह प्रकार के बालमरण का उल्लेख किया गया है जैसे कि १ वलय-मरण २. वशार्त्त-मरण ३. निदान-मरण ४ तद्भव-मरण ५. गिरि-पतन ६ तरु-पतन ७ जल-प्रवेश-मरण ८ अग्नि-प्रवेश-मरण ९ विष-भक्षण, १०. शस्त्रावपाटन ११ वेहायस-मरण १२ गृद्ध-स्पृष्टमरण।

भगवती सूत्र मे दूसरे शतक के प्रथम उद्देशक मे निदान-मरण के स्थान मे अन्तःशल्य मरण का उल्लेख है, शेष ग्यारह भेद स्थानाग की तरह ही हैं।

समवायाङ्ग सूत्र के सत्रहवे समवाय मे सत्रह प्रकार के मरणो का उल्लेख किया गया है जैसे कि १ आवीचि-मरण, २ अवधि-मरण, ३ आत्यन्तिक-मरण ४ वलय-मरण ५ वशार्त्त-मरण, ६. अन्त शल्य-मरण, ७ तद्भव-मरण, ८ बाल-मरण, ९. पण्डित-मरण, १० बाल-पण्डित-मरण, ११ छद्मस्थ-मरण १२ केवली-मरण, १३ वेहायस-मरण, १४. गृद्धस्पृष्ट-मरण, १५ भक्त-प्रत्याख्यान-मरण, १६ इगिनी-मरण, १७ पादपोपगमन-मरण।

इन पदो का सक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है—

१ प्रत्येक क्षण मे आयुष्कर्म के दलिको का क्षय होना आवीचि-मरण है। यह भेद सभी देहधारी जीवो मे पाया जाता है।

२ आयु की मर्यादा पूर्ण होने पर एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर को धारण करने के लिये परलोक जाना, किसी के मारने पर नहीं, अपनी मौत से मरना अवधि-मरण है।

३. जिस भव मे नरकभव या देवभव को प्राप्त किया है, वहा की आयु पूर्ण कर, पुन उसी भव को पाना, जहां से मर कर वहा गया है। इसको आत्यन्तिक-मरण कहते है।

४. महाव्रत या अणुव्रत को भग कर या छोड़ कर मरना वलय-मरण है।

५ इन्द्रियो के विषयो में आसक्त होकर मरना वशार्त्त-मरण है, जैसे दीपक की लौ पर पतगा जल कर मर जाता है। वीणा के मधुर स्वर को सुनकर सर्प, जिह्वा के वश होकर मछली मरती है। ऐसी मृत्यु को वशार्त्त मरण कहते हैं।

६ व्रतो मे लगे हुए दोषो की आलोचना निन्दना किए विना मरना अन्त शल्य-मरण है।

७ जिस भव की आयु पूर्ण की, उसी भव मे पुन उत्पन्न होना, जैसे मनुष्य का मर कर मनुष्य-भव मे उत्पन्न होना, तिर्यच का मर कर तिर्यच योनि मे जन्म लेना तद्भवमरण है। ऐसा मरण मनुष्य या तिर्यंच का ही होता है, देव या नारकियो का नहीं।

८ अविरत, अपच्चक्खाणी एव असयत जीवो का मरण बाल-मरण कहलाता है।

९ सर्वविरत संयमी एव सयत जीवो का मरण पण्डित-मरण माना जाता है।

१०. आदर्श गृहस्थ एव श्रमणोपासक का जो मरण होता है वह बाल-पण्डित-मरण कहलाता है।

११. छद्मस्थ की मृत्यु को छद्मस्थ-मरण कहते है। छद्मस्थ का अर्थ है अल्पज्ञ।

१२ केवली की मृत्यु को केवली-मरण कहा जाता है। जीव की सर्वज्ञ अवस्था को केवली कहते है।

१३ वृक्ष, पर्वत आदि से गिरकर या गले मे फासी लेकर मरना वेहायस-मरण है।

१४ गृद्ध पक्षी आदि हिंस्र-जन्तुओं द्वारा अपने शरीर का भक्षण करवा कर मरना गृद्ध-स्पृष्ट-मरण कहलाता है।

आमरण अनशन को जैन-भाषा मे सथारा कहते है। सथारे के तीन भेद है, उनमे से किसी एक के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होना ही आराधकता है। ऐसी मृत्यु कर्मों की अनन्त वर्गणाओ को क्षय कर देती है। भव्य जीवो को इसकी प्राप्ति के लिए प्रात, साय यह भावना अवश्य करनी चाहिए। जैसे विरक्त आत्मा मे दीक्षा-ग्रहण करते समय हर्ष और उत्साह बढा करता है, वैसे ही मृत्यु का समय निकट जानकर सफल साधक के मन मे हर्ष एव उत्साह ससीम से नि सीम हो जाते है। जो जीव मृत्यु से डरता रहता है उसको मृत्यु नही छोडती, चाहे वह किसी भी देवलोक मे जन्म क्यो न ले। जब साधक आगे बढकर मृत्यु का स्वागत करने के लिए निर्भीकता से उद्यत होता है, तब मृत्यु सदा-सदा के लिए उसका पीछा छोड़ देती है। अत साधक मृत्युभय को अपने हृदय मे अणुमात्र भी स्थान न दे। उसे सर्वदा यह भावना भानी चाहिए कि यदि सलेखना पूर्वक अनशनव्रत के द्वारा इस क्षण-भगुर

शरीर का नाश होता है तो यह मेरे लिए बडे सौभाग्य की बात है।

सयम और तप की विशुद्ध आराधना करके जो मृत्यु होती है वही सकाममरण है। इससे विपरीत पापवृत्तियो के चक्र मे फस कर मरना अकाममृत्यु है। वह जन्म-मरण की परपरा को वढाने वाली मृत्यु मानी गई है। यह मृत्यु जीवो को ससार-सागर मे डुवोती है सकाम मृत्यु जीव को उभारती है और साथ ही अभय वनाती है।

सयम और तप का नवीनीकरण ही सथारा है। यद्यपि सल्लेखना के द्वारा सथारे का पहले से ही अभ्यास प्रारम्भ किया जाता है, तथापि पूर्णतया सथारा तो अतिम मास, पक्ष या सप्ताह के भीतर ही किया जाता है। उसमे आचार-विचार आदि मे नवीनीकारण किए विना आराधक वनना दु शक्य है। नवीनी-करण मे श्रद्धा, सवेग, निर्वेद, धृति आदि की साधना पहले की अपेक्षा अधिक होती है। इन गुणो की देखरेख मे ही जीवन समुन्नत होता है।

सथारे के तीन भेद है उनका विश्लेपण निम्नलिखित है —

१५ भक्त-प्रत्याख्यान—यह सथारे का पहला भेद है, इसमे सथारा करने वाला स्वय भी अपनी शुश्रूपा कर सकता है और दूसरे से भी करवा सकता है। वह सथारा करने पर भी गमनागमन कर सकता है। उपाश्रय के भीतर कमरे से वाहर या अन्दर ऊपर-नीचे जा-आ सकता है। यह सथारा कारण से भी किया जाता है और विना कारण से भी। उपाश्रय के एक भाग मे जहा से मृत्यु के पश्चात् मृत शरीर का निर्हरण किया जाए, वसति से वाहर ले जाया जाए, वही

पर सथारा करना चाहिये। इस मे सथारे के सभी नियमो का पालन सामान्यतया करना ही होता है।

१६ इगिनीमरण—इस सथारे मे सामान्य नियम वे ही है जो भक्त-प्रत्याख्यान के है, किन्तु कुछ विशेष नियम भी है जो कि पहले मे नही है। इसमे मर्यादित या निश्चित की हुई भूमि से बाहर न जाने का प्रण करना होता है। इसमे सथारेवाला अपनी शुश्रूषा स्वय कर सकता है, किन्तु दूसरे से अपनी सेवा नही करवा सकता। इसकी आराधना वसति मे भी की जा सकती है और वसति से बाहर भी। इसमे मर्यादा-क्षेत्र के अदर हलन-चलन किया जा सकता है। यह पहले की अपेक्षा अधिक कठिन है।

१७ पादपोपगमन—कटी हुई वृक्ष की शाखा की तरह किसी एक ही स्थान मे पडे रहना। यह सथारा प्राय उपाश्रय से बाहर गिरि-कदरा आदि एकान्त स्थान मे किया जाता है। इस संथारे वाला अपने शरीर की शुश्रूषा, सेवा, देखभाल न स्वय करता है और न दूसरो से करवाता है।

सलेखना पूर्वक आमरण अनशन का हेतु शरीर के प्रति निर्मोह एव निर्ममत्व होना है। जब तक देह का ममत्व रहता है तब तक मनुष्य मृत्यु से भयभीत रहता है। जब देह के ममत्व से मुक्त हो जाता है तब मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है। इसका मुख्य लक्ष्य आत्म-लीनता है।

अनाचरणीय-भाव

उपर्युक्त सथारे के किसी भी भेद मे दोषो से सर्वथा अछूता रहना ही व्रत का महत्त्व है। किसी तरह का भी प्रमाद व्रत के

महत्त्व को गिरा देता है। सथारे में भी कुछ ऐसे दोष है जो मानसिक दुर्बलता से लग जाते हैं। प्रमाद दोषो के लिए मार्ग खोल देता है। सथारे मे लगने वाले दोष निम्नलिखित हैं—

१ **इहलोकाशंसा-प्रयोग**—मनुष्य-लोक विषयक इच्छाए करना, जैसे कि "मैं अगले भव मे राजा, मत्री, सेठ या आचार्य बनूँ" अथवा मित्रो पर या पुत्रादि पर स्नेह बधन रखना दोष है।

२. **परलोकाशंसा-प्रयोग**—परलोक-विषयक इच्छा रखना- जैसे कि "मैं परलोक मे इन्द्र बनूँ, या 'उच्च देव बनू' ऐसी चाहना रखना दोष है।

३ **जीविताशसाप्रयोग**—पूजा-सत्कार आदि विभूतिया देख कर उनके लालच मे आकर अधिक जीने की इच्छा करना।

४ **मरणाशसा-प्रयोग**—सेवा-सत्कार न देखकर, प्रशसा आदि न देखकर, भूख-प्यास, वेदना आदि से पीड़ित होकर, किसी को पास आते न देखकर, उद्वेग के कारण शीघ्र मरने की चाह करना दोष है।

५. **काम-भोगाशसा-प्रयोग**—दृष्ट या अदृष्ट काम-भोगो की कामना करना, अथवा सयम और तप-त्याग के बदले किसी भी तरह की भोग-सामग्री की चाह करना दोष है। यद्यपि सथारे के समय वचन और काय से ऐसी कोई क्रिया नही की जाती, तथापि केवल मानसिक भावो को लक्ष्यो मे रखकर सथारे मे दोष लग जाने की सभावना रहती है, अत सब प्रकार के दोषो से सावधान रहना ही साधक का कर्त्तव्य है।

संलेखना-विधि

विधि से किया हुआ कोई भी कार्य अवश्य सफल हो जाता

है ? सलेखना-व्रती साधक को सलेखना की विधि का ज्ञान होना ही चाहिए। विधि का ज्ञान श्रुतज्ञान से होता है। श्रुतज्ञान देहली-दीपक-न्याय को चरितार्थ करता है। श्रुतज्ञान स्व-प्रकाशक भी होता है और पर-प्रकाशक भी। वह अन्दर भी प्रकाश करता है और बाहर भी। प्रत्येक कार्य के निष्पादन करने की विधि अलग-अलग है। घट बनाने की विधि अलग है और पट बनाने की विधि भिन्न है।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी साधना के अनेक भेद है। जिस साधना मे सलग्न रहना हो, उस की आराधना भी विधि से ही की जानी चाहिये। इन्द्रियो और मन को नियन्त्रित करने की और कषायो के निग्रह करने की अनेक विधिया है। जैसे दीक्षा विधि से दी जाती है और विधि से ही ली जाती है, इसी प्रकार विधि-पूर्वक ग्रहण किया हुआ सथारा ही जीवन को समुन्नत करने का एक मात्र अमोघ उपाय है। संथारा पौषधशाला मे, उपाश्रय मे या किसी एकान्त स्थान मे करना चाहिए।

जब पूर्णतया सथारा करना हो तब सब से पहले आमरण अनशन करने के लिए उचित स्थान जो कि सब तरह से निर्दोष हो उसका निरीक्षण करना जरूरी है। मलमूत्र परठने के लिए भी उचित एव निर्दोष स्थान होना जरूरी है। भूमि पर आसन बिछा कर पूर्वाभिमुख या उत्तर दिशाभिमुख चौकडी लगाकर बैठे—"इच्छा कारेण सदिसह भगव, इरियावहिय०" का पाठ पढे, तस्सुत्तरीकरणेण का पाठ पढे, फिर लोगस्सुज्जोयगरे पाठ का ध्यान करे, फिर साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका चारो तीर्थ से खिमत-खिमावना करे, जैसे कि—

आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल गणे य।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि॥

सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अजलि करिय सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयपि॥

उस के वाद सव जीवो से खिमत-खिमावना करते हुए कहे— मैं सव जीवों को हृदय से क्षमा करता हू और वे सव जीव मुझे क्षमा करे, मैं सव जीवो के साथ पूर्ण मैत्री स्थापित करता हू, क्योंकि मेरे मन मे अव किसी के प्रति वैर-विरोध नही रहा।

उसके वाद जो पहले साधु के महाव्रतो में या श्रावक के व्रतो में किसी तरह का कोई दोष लगा हो तो उसकी आलोचना, निन्दना, गर्हणा करके सव तरह से मन के माया-शल्य, निदान-शल्य और मिथ्या-दर्शन-शल्य रूप तीनो शल्यो का उद्धरण करके सभी अकरणीय एव अनाचरणीय दुष्कृत्यो को जीवन भर के लिए न मन से करना, न मन से कराना और न मन से समर्थन करना, न वाणी से दुष्कृत्य करना, न वाणी से पाप कराना और न वाणी से पाप कर्म का समर्थन करना, न स्वय काय से पाप-कर्म करना, न काय द्वारा पाप कर्म कराना और न पाप-कर्म का काय द्वारा समर्थन करना, इस प्रकार सथारे मे नौ कोटि से प्रत्याख्यान किया जाता है।

यह शरीर मेरे लिए निधान की तरह एव वहुमूल्य रत्नो से भरे हुए डिव्वे की तरह इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, इन्द्रिय और मन के अनुकूल रहा है, यह मेरे लिये सम्मत, अनुमत एव विश्वस्त रहा है। मैं इस शरीर को सर्दी-गर्मी से बचाता रहा, भूख-प्यास से इसकी रक्षा करता रहा, इसे चोर-डाकुओ के प्रहार से

सुरक्षित रखता रहा, हिंस्र जन्तुओ से, डास-मच्छर, कीडी-खटमल आदि क्षुद्र प्राणियो से इसे हानि नही पहुचने दी, उत्पन्न होने वाली विविध व्याधियो, आतको, परीपह उपसर्गों से बचाने का उपाय करता ही रहा, किन्तु अब मैं अन्तिम श्वास तक इस शरीर के मोह-ममत्व से अलग होता हूं, शारीरिक मोह का पूर्णतया त्याग करता हूं। अब यह पुराना झोपडा धराशायी होनेवाला है। "मेरा मरण शीघ्र हो।" इस तरह काल होने की आकाक्षा न करता हुआ, अनित्य आदि बारह प्रकार की भावनाओ मे विचरण करते हुए सथारे को सफल करू।

सलेखना-पूर्वक आमरण अनशन पर मुझे दृढ श्रद्धा है, श्रद्धा के अनुरूप प्ररूपणा है, दोनो के अनुरूप सयम की आराधना तथा सथारे की आराधना करना ही मेरे जीवन का परम लक्ष्य है। जब मेरा सथारा निरतिचार सीझेगा, तभी मैं अपने को कृतार्थ समझूगा। अब जड-चेतन आदि पदार्थों से मेरा कोई सबध नही, हसी-मजाक, विकथा-प्रमाद आदि विकारी वातावरण से दूर रहकर जिनवाणी, तत्त्वज्ञान एव बोध-कथाओ से अपने को भावित करू, गुरुदेव मुझे धर्म-शिक्षा, उपदेश देते हुए मेरे भावो को मगलमय एव कल्याणमय बनाकर आराधकता के स्तर पर पहुचाकर नमस्कार-मत्र का स्मरण कराते हुए मेरा सथारा सीझने का आशीर्वाद प्रदान करे।

मारणान्तक सलेखना करने का पाठ .—

अपच्छिम-मारणतिय-सलेखना-झूसणा-आराहणा। पोषधशाला पुजी-पुजी ने उच्चार-पासवण भूमिका पडिलेही पडिलेहीने, गमणागमणे पडिक्कमी-पडिक्कमीने, दर्भादिक सथारो सथरी-सथरीने, दर्भादिक सथारो दुरूही-दुरूहीने, पूर्व तथा उत्तर दिशि

पल्यक आदि आसने वेसी वेसी ने, करयल सपरिग्गहिअं सिरसावत्त मत्थए अजलि त्ति कट्टु एवं वयासी—

नमोऽत्थु णं अरिहंताण भगवंताण,

आइगराण तित्थगराणं सयसंबुद्धाण।

पुरिसुत्तमाण पुरिससीहाण पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवर-गंध-हत्थीण।

लोगुत्तमाण लोगनाहाण लोगहियाणं लोगप्पईवाणं लोग पज्जोयगराण।

अभयदयाण चक्खुदयाण मग्गदयाणं सरणदयाण जीवदयाण वोहिदयाण।

धम्मदयाणं धम्मदेसयाण धम्मनायगाण धम्मसारहीण धम्मवरचाउरंत चक्कवट्टीण।

दीव-ताण-सरण-गइ-पइट्ठाण, अपडिहय वरनाणदंसणवराणं वियट्टछउम्याणं।

जिणाणं जावयाण, तिण्णाण तारयाण, बुद्धाण वोहयाण मुत्ताण मोयगाणं।

सव्वण्णूण सव्वदरिसीण सिव-मयल-मरुय-मणंत-मक्खय मव्वावाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेय ठाण सपत्ताण नमो जिणाण जियभयाण।

एम अनन्ता सिद्ध जी ने नमस्कार करीने, जयवंता वर्तमान तीर्थंकरो ने नमस्कार करीने।

निम्नलिखित पाठ दो वार पढकर धर्माचार्य को नमस्कार करे।

इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए अणुजाणह मे मि उग्गहं निसीही "अहो काय काय" संफास खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेण मे दिवसो वइक्कंतो ? जत्ता भे ? जवणिज्जं च भे ? खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं। आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसियाए आसायणाए तित्तीसन्नयराए जंकिंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए, वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए।

कोहाए माणाए मायाए लोहाए। सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। इस प्रकार अपने धर्माचार्य को नमस्कार करके—

साधु प्रमुख चारे तीर्थं खमाविने, सव्वजीवराशि खमाविने, पूर्वे जे व्रत आदरया छे तेना जे अतिचार दोष लागया होय ते सर्वे ने आलोई पडिक्कमी निंदी निःशल्य थई ने सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं पच्चक्खामि, सव्वं अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि, सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि। सव्वं कोहं माणं जाव मिच्छादंसणसल्लं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि करंतंपि नाणुजाणामि, मणसा वयसा कायसा एम अठारे पाप स्थानक पच्चक्खीने, सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं चउव्विहंपि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए। इस प्रकार चारो आहारो का प्रत्याख्यान करके।

जं पियं इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं मणुण्णं मणामं धिज्जं वेसासियं समयं अणुमयं, भंडकरंडसमाणं, रयण करंडगभूयं मा णं सियं, मा णं उण्हं मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं वाला, मा णं

चोरा, मा ण दसगा, मा ण मसगा, मा ण वाहिय, पित्तिय, कप्फिय सन्निवाइय विविहा रोगायका परीसहा उवसग्गा फासा फुसति, एवपिय ण चरमेहि ऊसास-नोसासेहि वोसिरामि त्ति कट्टु इस प्रकार शरीर का व्युत्सर्ग करके काल अनवकखमाणे विहरामि। इस प्रकार की सद्दहणा परूवणा, करिए तिवारे फर्सनाए करी शुद्ध, एहवा अपच्छिम-मारणतिय-संलेहणा-झूसणा-आराहणा ना पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा ते आलोऊ—

इह लोगाम्सप्पओगे, पर-लोगाससपओगे, जीवियाससप्पओगे मरणाससप्पओगे कामभोगाससप्पओगे।

समाधि मरण ही सथारा है, अत मरण को कला बनाने के लिये श्रमण-संस्कृति मे जीवन के प्रारम्भ से ही अभ्यास करने का सकेत किया गया है क्योंकि मृत्यु कभी भी आ सकती है। मृत्यु से डरने की आवश्यकता नहीं, मृत्यु से भयभीत होना अज्ञान का फल है। अज्ञानियो का जन्म-मरण दोनो ही नगण्य हैं। ज्ञानियों का जीवन कलापूर्ण होता है। जीवन का कालमान बड़ा होता है जब कि मरण का समय स्वल्प ही होता है। जीवन भर में धर्म-कला का विकास जितना करने पाता है उसके अनुसार ही मरण-कला का विकास होने पाता है। मरण-कला ही प्रमाणित करती है कि इस साधक ने जीवन भर मे धर्म-कला सीखने मे कितना परिश्रम किया है? इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि भगवान महावीर ने जो सन्थारे के विधि-विधान का निर्देश किया है, वह अन्यत्र कही देखने को नही मिलता।

रत्नत्रय के आराधक तीन प्रकार के होते है—उत्कृष्ट आराधक, मध्यम आराधक और जघन्य आराधक। इनमें पहली कोटि का आराधक उसी भव मे परमपद को प्राप्तकर लेता है। दूसरी कोटि

का तीसरे भव को अतिक्रम नही करता और तीसरे स्तर का आराधक सात या आठ भव को अतिक्रम नही करता।

रत्नत्रय का आराधक सदा के लिए नरक गति से, तिर्यंचगति से, दुर्गतिरूप मनुष्यगति से, भवनपति-वानव्यतर-ज्योतिष्क, आभियोगिक, किल्विषी, परमाधामी, तिर्यग्जृ भक, स्त्री, नपुसक और दैवी, इन सब से सबध विच्छेद कर देता है। वह तो केवल उच्च-वैमानिक देव बनता है या सुकुल, सुजाति मे सब तरह के वैभव से सपन्न महामानव बनता है। जब तक वह सिद्धत्व को प्राप्त नही कर लेता, तब तक इन दो सुगतियो मे ही जन्म-मरण करता रहता है। वह सात भव देव के और आठ भव मनुष्य के, इस प्रकार पन्द्रहवें भव मे निश्चय ही सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। शुद्ध सथारा करने से कर्मो की महानिर्जरा और महापर्यवसान होता है, दु खो की परम्परा समाप्त हो जाती है। यही है आराधक बनने की कल्याण परंपरा।

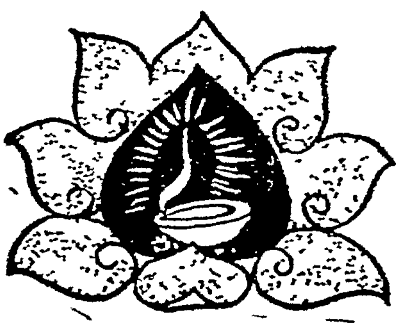

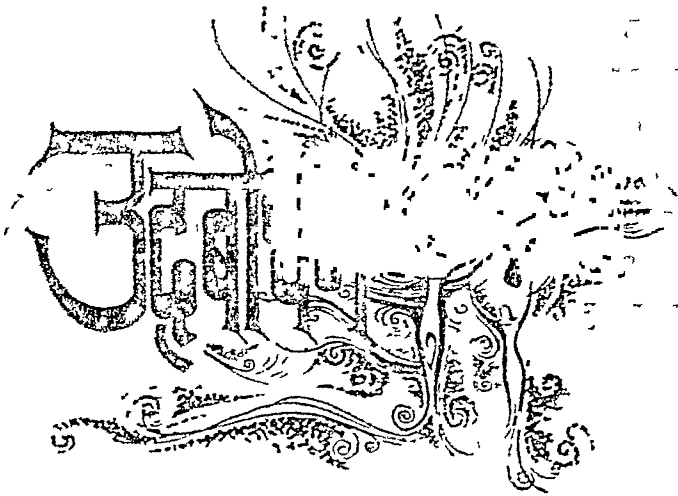

परिशिष्ट

मानव-धर्म

सत्यं दया तप. शौच, तितिक्षेच्छा शमो दम. ।
अहिसा ब्रह्मचर्यञ्च, त्याग स्वाध्याय एव च ॥१॥
सतोप समदृक् सेवा, ग्राम्येहोपरम. शनै ।
नृणा विपर्य्ययेहेक्षा, मौनमात्म - विमर्शनम् ॥९॥
अन्नाद्यादे सविभागो, भूतेभ्यश्च यथार्हत ।
तेष्वात्म - देवता - बुद्धि , सुतरां नृषु पाण्डव ॥१०॥
श्रवण कीर्तनञ्चास्य, स्मरण महता गते ।
सेवेज्या - वनतिर्दास्यं, सख्यमात्म - समर्पणम् ॥११॥
नृणामयं परो धर्मो, जनाना समुदाहृत ।
त्रिशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥१२॥

श्रीमद्भागवत स्क० ७, अ० ११ ।

मानव-धर्म

यद्यपि जैनागमो मे मानवता के लक्षणो की विस्तृत व्याख्या की गई है, फिर भी हम यहा श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में दिए गए मानवता के लक्षणो का परिचय दे रहे है, केवल इस उद्देश्य से कि हम यह जान सके कि अन्य सम्प्रदायो ने भी मानवता के उन्ही लक्षणो का निर्देश किया है जो जैन शास्त्रो मे वर्णित है।

यह निश्चित है कि मानव सब प्राणियों मे श्रेष्ठ है, क्योकि जो विशेषताएं मानव मे पाई जाती है उनकी प्राप्ति अन्य प्राणियो मे सर्वथा असम्भव है। जीव परमपद की प्राप्ति जब भी करेगा, तब मानवता को ग्रहण करके ही कर सकता है। यही कारण है कि मानवता को दुर्लभ कहा गया है।

मानवता का अर्थ है मानव-धर्म। जो व्यवहार सब के लिये हितकर एव परम प्रिय हो वह धर्म है। उचित-अनुचित का विचार करके प्राणि-मात्र का हित सम्पादन करनेवाली चित्तवृत्ति ही धर्म है, अथवा वस्तु का जो भी गुण या स्वभाव है, वह धर्म कहलाता है। स्वकर्त्तव्य भी धर्म की परिधि मे आ जाता है। धर्म-विशिष्ट मानव ही मानव है, अत. मानव बडा नही है, अपितु मानव मे रही हुई धर्म-भावना अर्थात् मानवता ही बड़ी है।

यद्यपि मानवता की सीमा नही बाधी जा सकती, तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि देखने मे दो हाथो वाले सभी प्राणी मानव ही हैं, किन्तु केवल मानव-योनि मे जन्म लेने मात्र से मानव मानव नही बन जाता, मानव वह है जो उत्तरोत्तर अपनी मानवता का विकास करता है। मानव-धर्म क्या है? इस सन्दर्भ मे विचारक ऋषियों ने मानव-धर्म के ऐसे तीस लक्षण बताए है, जो मानवता के विकास की परख हैं, जिनसे वास्तविक मानवता का परिचय प्राप्त होता है, जो मानवता के विकास की कसौटी हैं, जैसे कि—

१. सत्य

जिसका अस्तित्व पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा वही सर्वदा एक रूप रहने वाला तत्त्व सत्य है। सत्य भी आत्मा की तरह अमर तत्त्व है। वह आत्मा के भीतर भी है और बाहर भी। प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते है—बहिरग और अतरग। इन्ही को दूसरे शब्दो मे द्रव्य-सत्य और भाव-सत्य भी कह सकते हैं। द्रव्य सत्य का प्रकाश धुन्धला होता है और भाव सत्य का प्रकाश अत्युज्ज्वल होकर सर्वत्र फैलता है। सम्यग्दृष्टि जीव सत्य की आराधना दोनों तरह से करता है। उसके मन मे भी सत्य का वास होता है, मस्तिष्क मे, वाणी मे तथा काय मे भी सत्य निवास करता है। जब आत्मा सत्यमय हो जाता है तब वह परमात्मा बन जाता है। जीवन के भीतर सत्य का जितना प्रकाश होगा, जीवन उतना ही मान्य एवं प्रामाणिक होगा, अतः सत्य मानवता का प्रथम लक्षण है।

२. दया

दया का अर्थ है निष्काम भाव से प्राणियों की रक्षा करना। रक्षा दूसरे की भी की जाती है और अपनी भी। दया के भी दो रूप होते हैं, द्रव्य-दया और भाव-दया। अपने और दूसरो के प्राणों की रक्षा करना द्रव्य-दया है और अपने आपको और अन्य व्यक्ति को पाप-कर्मों से, राग-द्वेष से बचाना भाव-दया है। द्रव्य-दया पुण्यबंध का तथा भाव-दया सवर और निर्जरा का कारण है। मानवता मे दोनो तरह की दया समाविष्ट है।

३. तप

तप का अर्थ है अपने आपको साधना की आग मे तपाना। खाने मे, पीने मे, पहनने मे, बोलने मे, भोगादि मे संतोष रखना-कषायो का शमन और इन्द्रियो का दमन सतोष-वृत्ति से ही होता है। शमन और दमन से मन का निग्रह स्वत: ही हो जाता है। तप भी दो तरह का होता है—बहिरंग और अतरग। जिसका प्रभाव शरीर पर या लोगों पर पड़े, वह बहिरग तप है और जिस का प्रभाव आत्मा या मन पर पडे, वह अतरग तप कहलाता है सम्यग्दृष्टि सच्चे मानव के लिए दोनो प्रकार का तप उपयोगी होता है।

४. शौच

शुचि और शौच ये दोनो शब्द पवित्र एव स्वच्छ अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। शौच भी दो प्रकार का होता है द्रव्य-शौच और

भाव-शौच। अपवित्र को पवित्र करना ही शौच की उपयोगिता है। जब अपवित्र द्रव्य को पवित्र करने के लिए अनेक शोधक पदार्थों का उपयोग किया जाता है, उसे द्रव्य-शौच कहा जाता है मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, धूप, साबुन, तेजाब आदि से जो सफाई की जाती है वह द्रव्य-शौच है इनसे भावो की शुद्धि नही हो सकती। जो भावो को पवित्र करनेवाले तत्त्व हैं, उनसे ही आन्तरिक शुद्धि होती है। मत्र, ब्रह्मचर्य तप, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त, क्षमा आदि तत्त्वों से अन्त करण की शुद्धि होती है। बहिरग शुद्धि सभ्यता है और अन्तरग शुद्धि सस्कृति। व्यवहार नय की दृष्टि से दोनो प्रकार के शौच उपयोगी हैं, किन्तु निश्चय-नय सस्कृति को ही मुख्यता देता है। भावो की पवित्रता ही सस्कृति है, सभ्यता और संस्कृति दोनो शब्द मानवता की बाहरी और भीतरी पवित्रता के ही द्योतक है।

५. तितिक्षा

इस शब्द का अर्थ है सहन-शक्ति का उपयोग। जब कभी कोई अनाडी व्यक्ति गाली दे, या लोगो के सामने निन्दा करे, या तिरस्कार करे, उस समय साधक को सहनशक्ति से काम लेना चाहिए। अथवा यदि कोई मार-पीट करके कष्ट देता है, उसे शान्तिपूर्वक सहना चाहिये। कर्म-भोग के रूप मे स्वत उत्पन्न हुए कष्टो को सहन करना भी मानवता का लक्षण है।

राग-द्वेष से तटस्थ रहना समता है और समता ही सहन-शक्ति है। अत्याचारी के अत्याचारो को सहना लोक-व्यवहार मे अपराध माना जाता है, उस अपराध से बचने के तीन उपाय हैं—

अत्याचारी को उपदेशो एव शिक्षाओ द्वारा समझाना, इतने प्रेम भरे शब्दो से उसे समझाना जिससे अपराधी को ऐसा जान पडे कि यह मेरा हितैषी है, सच्चा मित्र है। यदि समझाने पर भी नही मानता तो मौन धारण करले। यदि मौन धारण करने से भी मन मे खलबली मच रही हो तो टल जाने मे ही हित है। इन मे से जिस उपाय मे भी मन को शान्ति मिल सके और दूसरे का सुधार भी हो सके वैसा आचरण करना चाहिये, किन्तु स्वय अपराध से अछूता रहे। दूसरे से अपराध छुडाता हुआ व्यक्ति यदि स्वय अपराधी बन जाए तो यह बुद्धिमत्ता नही है, इसे मानवता का विकास नही कहा जा सकता है।

६. शम

उभरने वाले मानसिक विकारो को उभरने न देना शम कहलाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार आदि विकार मानव को बेचैन बनाए रखते हैं। जिस वार्तालाप से, जिस साहित्य से, जिस वातावरण से किसी भी विकार के भडकने की सभावना हो, उससे अपने को दूर रखना तथा शान्त-उपशान्त एव प्रशान्त रहना शम है। शम ही मानवता है, विकारो से दब जाना मानवता नही।

७. दम

जब इन्द्रिया अपने-अपने विषय को ग्रहण करने के लिए दौड लगाना चाहती हो, धर्म-मर्यादा का उल्लघन कर रही हो, पथ-भ्रष्ट करने के लिए उतारू हो रही हो, तब उन्हे सयम से

नियन्त्रित करना, वहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाना दम कहलाता है। जैसे घोडे को लगाम से वश मे किया जाता है वैसे ही इन्द्रियों को दम-नीति से नियन्त्रित किया जाता है। उन्हे उद्दण्ड एव उच्छृंखल न होने देना मानवता है।

८. अहिंसा

हिंसा न करना ही अहिंसा है। सकल्प-पूर्वक या जान-बूझ कर किसी भी निरपराधी छोटे-वडे प्राणी को मारना हिंसा है। मानसिक हिंसा, वाचिक हिंसा और कायिक हिंसा से निवृत्त होना अहिंसा है। अहिंसा भी दो प्रकार की होती है एक द्रव्यत अहिंसा और दूसरी भावत अहिंसा। किसी के प्राणो को न लूटना, उसे व्यथा न पहुचाना, द्रव्यत अहिंसा है। राग-द्वेष से अलग रहना भावत अहिंसा है।

दूसरो के प्राणो की रक्षा करना भी मानवता है और राग-द्वेप से अपने को अलग रखना भी मानवता है। अहिंसा के बिना मानवता पनप नही सकती। इसका पालन मानव ही कर सकता है; अत इसे भी मानव-धर्म कहा गया है।

९. ब्रह्मचर्य

सदाचार का पालन मानव ही कर सकता है, ब्रह्मचर्य मानवता के साथ ही पनपता है। एक पत्नीव्रत का पालन करना भी कथचित् ब्रह्मचर्य है, क्योकि उसमे सतोप की प्रधानता होती है और दुराचारी वृत्तियों के दमन का भाव होता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म मे लीन होने के जितने भी उपाय हैं उन सब का

आचरण करना वस्तुत. ब्रह्मचर्य है। तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं। सब तपो मे ब्रह्मचर्य को उत्तम कहा गया है, क्योंकि तपश्चर्या ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए की जाती है। ब्रह्मचर्य का पालन मानव ही कर पाता है, अत ब्रह्मचर्य भी मानव-धर्म है।

१०. त्याग

किसी पाप या वस्तु-विशेष को छोडने के अर्थ मे त्याग शब्द का प्रयोग होता है। वह दो प्रकार का होता है, आंशिक त्याग और पूर्ण त्याग। इनमे पहला भेद गृहस्थाश्रम मे पाया जाता है और दूसरा सन्यासाश्रम मे। इन को क्रमश श्रमणोपासक-वृत्ति और साधु-वृत्ति भी कहते हैं। जब साधक लक्ष्य की ओर बढता है तब मार्ग मे आने वाले प्रगति के बाधक तत्त्वो को छोडता हुआ साधना-पथ पर अग्रसर होता है। त्याग पापवृत्तियो का किया जाता है और पर-पदार्थ का भी। जब एक ओर साधक बढता है तो दूसरी ओर बहुत कुछ छोडता भी है। आत्मा ने जो अपना सबध पर-पदार्थो से जोडा हुआ है उसको अपने से अलग करना त्याग है। त्याग भी मानव ही कर सकता है।

११. स्वाध्याय

जिन शास्त्रो का अध्ययन करने से सयम एव तप मे प्रवृत्ति हो, अथवा जिन के अध्ययन करने से सुवृत्ति एव सुनिवृत्ति विषयक ज्ञान हो, अथवा उपादेय रूप धर्म के सभी भेदो का तथा हेयरूप पाप के सभी भेदो का ज्ञान हो, अथवा आत्म-तत्त्व का सुनना, जानना, समझना, चिन्तन, मनन करना अथवा ध्यान और समाधि

के विधि-विधानो को पढ कर ज्ञान प्राप्त करना ही स्वाध्याय है। ध्यान के शिखरो पर चढने के उपाय स्वाध्याय से ही जाने जाते हैं। स्वाध्याय अतरग तप है, स्वाध्याय से मन एकाग्र होता है, ज्ञान की वृद्धि होती है, चारित्र निर्दोष बनता है। स्वाध्याय भी मानव-धर्म है, क्योकि मानवेतर प्राणी स्वाध्याय नही कर सकता।

१२. सन्तोष

जितने भी दृश्यमान पदार्थ है वे सब इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। जो इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ हैं, वे सब आसक्ति उत्पन्न करनेवाले हैं। जीवन मे आसक्ति का कम होना, अर्थात् अनासक्ति ही संतोष है। ममत्व की निवृत्ति ही समता है और इच्छाओ का निरोध ही सन्तोप है, सतोप को ही अपरिग्रह कहा जाता है। सतोप से तृष्णा और लोभ ये दोनो स्वत ही नष्ट हो जाते है, । इससे सभी इच्छाए अनायास ही शान्त हो जाती हैं। फिर साधक न अपने को वरिष्ठ समझता है और न दूसरे को कनिष्ठ। सतोपवृत्ति भी मानव के अन्त करण मे ही उत्पन्न हो सकती है, अत सतोप भी मानवता का एक अग है। इससे पाप-प्रवाह स्वत· ही अवरुद्ध होने लगता है।

१३. समदृक्

समदर्शी होना। सब को समान दृष्टि से देखना ही समदर्शिता है। कचन और काच मे, नगर और वन मे, सुख और दु ख मे, जन्म और मरण मे, ऊच और नीच मे, नरक और स्वर्ग मे, हानि और लाभ मे, उदय और अस्त मे, समदर्शी बनकर रहना, शत्रु और मित्र को समान भाव से देखना, त्रस और स्थावर जीवो

मे समान-भाव से दया का व्यवहार करना, समदर्शिता रूप मानव-धर्म है। मानवता का पालन मानव ही कर सकता है, मानवेतर प्राणी नही। समद्रष्टा बनना भी मानवता ही है।

१४. सेवा

दूसरो को सुख और शान्ति पहुचाना, सबके काम मे सहायता करना सेवा है। अपना सुख छोडकर ही दूसरो की सेवा की जा सकती है। जिसके मन मे सहानुभूति, दया अनुकपा होगी, वही सेवा कर सकता है। क्रोध और अभिमान छोडकर ही सेवा की जा सकती है। शान्त, सहिष्णु एव अक्षुब्ध व्यक्ति ही सेवा करके पुण्यानुबन्धीपुण्य और निर्जरा का पात्र बन सकता है। सेवा भी मानव ही कर सकता है मानवेतर नही। अत सेवा भी मानवता का अभिन्न अग है।

१५. ग्राम्येहोपरम

यह शब्द ग्राम्य+ईहा+उपरम इन तीन शब्दो से बना हुआ है। ग्राम्य का अर्थ है—इन्द्रिय-समूह, भौतिक सुख या पशुवृत्ति। इन की कामनाओ से निवृत्त होना ही ग्राम्येहोपरम है। इन्द्रियो की दासता भौतिक सुखो मे तल्लीनता मूढता, अनभिज्ञता, परस्पर लडना-झगडना, स्वार्थ-परायणता, परमार्थहीनता ये सब पशुवृत्ति के अवगुण है। इन सबसे बचे रहना मानवता है। पशुवृत्ति आत्मा को पतन की ओर उन्मुख करती है, जबकि मानवता उच्चस्तर की प्रकृति एव सस्कृति है। इसका पालन भी मानव ही कर सकता है, अत ग्राम्येहोपरमता भी मानवता का सहचारी गुण है, मानवता का चिन्ह है।

१६. विपर्ययेहेक्षा

यह शब्द भी तीन शब्दो से बना हुआ है विपर्य्यय+ईहा+ईक्षा। अपने मन की धारणा के विपरीत दूसरे उसके संबध मे क्या चाहते है, इस विषय का विचार करना। यह भी मानव की ही विशेषता है कि वह जो कुछ भी करता है उसमे हानि और लाभ सोच कर करता है और साथ ही कार्य करने से पहले या करते समय यह अवश्य सोचता है कि इस कार्य से मेरा यश होगा या अपयश ? दूसरे मेरे समर्थक बनेंगे या विरोधी ? मेरा सम्मान बढेगा या अपमान होगा ? मैं जिस सघ मे रहता हूं उसकी प्रतिष्ठा होगी या अवनति ? संघ मेरा अनुगमन करेगा या विरोध। इन बातो का सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करना मानव-धर्म है। मानवेतर प्राणी मे यह विशेषता मिलनी असम्भव है।

१७. मौन

न बोलना ही मौन है। झूठ न बोलना, निन्दा न करना, बिना विचारे न बोलना, व्यर्थ न बोलना, अहंकार की भाषा में न बोलना, गुस्से में आकर न बोलना, कपट भाषा में न बोलना, विकथा न करना, पीडाकारी, हिंसाकारी भाषा न बोलना, भय से न बोलना, हसी मजाक से न बोलना, व्यग्यात्मक भाषा न बोलना कलहकारी बोली न बोलना भी मौन के ही अंग है। मौन करने से वाणी की शक्ति बढती है। मन श्रद्धा के केन्द्र मे स्थिर हो जाता है। शका और भय से मुक्त होकर समाधिस्थ भी हो जाता है। बोलने की शक्ति होते हुए भी न बोलना अर्थात् रसनेन्द्रिय को नियन्त्रित करना भी मानवधर्म है।

१८. आत्म-विमर्शन

प्रत्येक बात के संबंध मे सब से पहले अपने मन मे उचित चिन्तन करना। आत्म-निणय और आत्म-विश्वास शुभ संकल्पो से ही हो सकते हैं। मानव जिस कार्य को करना चाहता है उस के आस-पास भीतर और बाहर होने वाले लाभ और हानि, स्वल्प लाभ और अधिक लाभ, स्वल्प हानि और अधिक हानि, इन सब बातो के प्रत्येक पहलू पर विचार करना मानवता है। आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टि से हानि और लाभ का विचार करके अंत मे आत्म-निर्णय करना मानव-धर्म है

१९. संविभाग

संविभाग का मुख्य अर्थ है जीवन उपयोगी वस्तुओ का उचित विभाग एव उचित वितरण करना। प्राय ससार मे यह देखने मे आता है कि मनुष्य राग और पक्षपात के अनुसार ही अन्न-धन आदि का वितरण करता है। किसी को कम दिया जाता है और किसी को अधिक। यही विषम व्यवहार कलह का कारण होता है।

न्याय नीति के अनुसार वस्तुओ का बटवारा करना मानवीय धर्म है। जो उचित संविभाग नही करता वह वस्तुत चोर है। चोर तो बंधन का अधिकारी होता है, मोक्ष का नही। "असंविभागी नहु तस्स मोक्खो"—यदि कोई साधक होकर भी भोजन-पानी, वस्त्र, स्थान आदि का बटवारा उचित नही करता, स्व-पर का भेद भाव रखकर वितरण करता है वह असंविभागी माना जाता है। भले ही वह लोगो के आगे कितना ही उच्च सयमी

हो, किन्तु भगवान महावीर के शब्दो मे वह मोक्ष का अधिकारी नही हो सकता। वस्तु का न्यायोचित वटवारा होने पर न किसी की शिकायत होती है और न किसी को दुख होता है। अत न्याय-सगत वितरण करना मानवता है। मानवेतर प्राणियो मे यह विशेषता नही पाई जाती।

२०. आत्म-वुद्धि

सभी मानवो मे आत्मीयता का अनुभव करना, "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना रखना। ऐसे शुभ सकल्प मानव मे ही उत्पन्न हो सकते हैं। सव प्राणियो को आत्मतुल्य समझना, या सव मनुष्यो को अपने सम्वन्धी के समान समझना, अपनत्व भाव रखना, किसी मे भी परत्व की भावना न रखना, भले ही वह छोटा है या वडा, धर्मात्मा है या पापात्मा, आस्तिक है या नास्तिक, किसी के प्रति भी द्वेषभाव न रखना, घृणा, अर्थात् नफरत न रखना मानवता है। मानव का मानव के प्रति सद्व्यवहार करना ही मानवधर्म है।

२१. देवता-बुद्धि

मानव-मात्र मे देवतुल्य पूज्य-भावना रखना। किसी के साथ राक्षसी या दानवी भावना से बर्ताव न करना, दिव्यदृष्टि से देखना, समझना, मानना प्रत्येक मानव का हितचिन्तन करना मानवता है। आदर की दृष्टि से सव का सम्मान करना ही देवता-बुद्धि है।

२२. श्रवण

जीवन-उत्थान के शिक्षा-सूत्र सुनना, प्रभु-वाणी एव सन्त-वाणी सुनना, गुरुजनो के उपदेश सुनना जिनके श्रवण से सम्यक् ज्ञान के आलोक से आत्मा आलोकित हो सके वैसे शिक्षा-सूत्र एव सूक्तिया सुनना मानवीय कर्त्तव्य है। सुशिक्षाओ के सुनने से मानवता पनपती है—पल्लवित, पुष्पित एव फलित होती है, विकसित होते-होते वह मानवता ससीम से असीम हो जाती है। मानवेतरो में ऐसी श्रवण-शक्ति नही पाई जाती है।

२३. कीर्तन

परम श्रद्धेय रूप परमेष्ठी, धर्माचार्य आदि के गुणो की प्रशसा करना, उनका पुनीत नाम लेकर दूसरो के सामने स्तुति करना, उनका यशोगान करना, जिस से सब लोग धर्मलाभ और पुण्यानुबन्धी पुण्यसे लाभान्वित हो जाएं, इस प्रकार की ध्वनि-प्रक्रिया को कीर्तन कहा जाता है। कीर्तन करना भी मानवीय भावना है मानवेतर प्राणी कीतन करना नही जानता। अत कीर्तन भी मानवता का अभिन्न अग है।

प्रशसा के अनेक कारण होते है, जैसे कि स्वार्थसिद्धि के लिये की गई प्रशसा से दूसरो के हृदय मे दुर्वासना वढती है। लोक-कार्यार्थ की गई प्रशसा से अभिमान वढता है। दूसरे की उन्नति के लिये की गई प्रशसा मे उत्साह वढता है और निष्काम प्रशसा से श्रेय वढता है। अत गुणी जनो की स्तुति, प्रशसा एव यशोगान मानव-धर्म है।

२४. स्मरण

भगवान के गुणों का स्मरण करना, महापुरुषो को उत्तम गति कैसे प्राप्त हुई ? सीखी हुई या पढी हुई शिक्षाओ को पुन पुन. याद करना मानव-धर्म है। मानवेतर प्राणियो मे स्मरण रूप विशेषता भी नही पाई जाती है।

२५. लोक-सेवा

जनता-भगवती की सेवा करना ही भगवान की सेवा है। जनता के लिये रोटी, कपडा, मकान आदि का प्रवन्ध करना, विद्यालय, चिकित्सालय, प्रशिक्षणालय खोलना, वेरोजगारो को किसी कारोवार मे लगाना, अनाथ, वृद्ध, अपाङ्गो को सुख-सुविधा की व्यवस्था करना, शत्रु-राज्यों के आक्रमणो से जनता की रक्षा-व्यवस्था करना, चोर-डाकुओं से जनता को वचाना, जिन कारणो से जनता की पाप-वृत्ति हट जाए वैसी व्यवस्था करना, लोक-सेवा है। जन-सेवा मानव ही करता है। मानवता ही मानव-धर्म है। मानवता से ही मानव महान् वनता है।

२६. इज्या

यज् धातु—देवपूजा, सगतिकरण और दान अर्थ मे प्रयुक्त होती है। यज् का सप्रसारण रूप इज्या वनता है। देवपूजा—धर्मदेव और देवाधिदेव इनको क्रमश श्रमण निर्ग्रन्थ और तीर्थङ्कर या अरिहन्त भगवान भी कहते हैं। पूजा का अर्थ है—सत्कार वहुमान करना। मन मे श्रद्धा, वाणी से स्तुति और काय से आज्ञा-पालन, इन तीनो के समन्वय को पूजा कहते हैं। अपने और दूसरो के लिये कल्याणकारी साधनो को जुटाना संगतिकरण है। धर्म-दान,

अनुकम्पा दान अभय-दान, विद्या-दान अन्न-वस्त्र-औषध-दान, सहयोग, आत्मबलिदान इन सब को इज्या या यज्ञ कहा जाता है। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। इस प्रसग में सात्त्विक यज्ञ ही अभीष्ट है, तामसी और राजसी यज्ञ नही, क्योकि सात्त्विक यज्ञ करना ही मानवता है। सात्त्विक यज्ञ निम्नलिखित है—

१. स्वाध्याय-यज्ञ—अध्ययन-अध्यापन में संलीन रहना।

२. जप-यज्ञ—पठितग्रन्थो का पुन-पुन परिशीलन करना, या जाप करना।

३. कर्म यज्ञ—सुशिक्षाओ को जीवन मे उतारना, अप्रमत्त होकर कर्त्तव्य का पालन करना।

४ मानस-यज्ञ—समाधिस्थ रहना, धर्मध्यान मे तल्लीन रहना।

५ ब्रह्म-यज्ञ—आत्मा मे सलीन होना या परमात्मा मे तल्लीन रहना।

६ देव-यज्ञ—धर्म-गुरु या धर्माचार्य का सम्मान करना।

७ पितृ-यज्ञ - माता-पिता की सेवा या बहुमान करना।

८ भूत-यज्ञ—छोटे-बडे सभी प्राणियो की रक्षा करना किसी का अहित न सोचना और प्राणि मात्र के लिये अन्न-दान देना भूतयज्ञ।

९ अतिथि-यज्ञ—अतिथियो का सम्मान करना।

इस प्रकार के सात्त्विक यज्ञ मानवता के पोपक माने गए है।

२७. विनय

विनम्रता का होना ही विनय है। विनय से मानवता चमकती है, जैसे किसी स्थान मे चिन्तामणि रत्न पडा होने पर भी वह उस पुण्यवान को ही प्राप्त होता है जो उसके गुणो की परख करने वाला जौहरी है, जो उसे झुककर उठाने का प्रयास करता है। वैसे ही सम्यग् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र ये तीन अनमोल रत्न चिन्तामणि के समान है, परन्तु इनकी प्राप्ति विनीत व्यक्ति को ही हो सकती है, अभिमानी व्यक्ति इन्हे प्राप्त नही कर सकता।

अहकार के नष्ट एव मद होने से जिस गुण की उपलब्धि होती है वही विनय है। विनय से ज्ञान-दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होती है। विनीत मानव सब को अच्छा लगता है। वंदना, वात्सल्य, स्तुति, प्रीति, आदर, सत्कार, बहुमान इन सब का ग्रहण विनय शब्द से हो जाता है। यह निश्चित सिद्धान्त है जो श्रद्धेय के प्रति विनीत होगा, वह अवश्य ही विश्ववद्य बन जाएगा।

२८. दास्य

पूज्य जनो का या पच परमेष्ठी का दास बन कर कर्त्तव्य का पालना करना दास्य है। दास्य-भाव अपनाने वाले के लिए वह दिन अधिक दूर नही होता जब वह दासत्व से निवृत्त होकर सदा के लिए स्वामी बन जाता है। जिसका दास बनने से कालान्तर मे जो स्वामी उसे अपने तुल्य बना देता है, वस्तुत उसी स्वामी की दासता उपयोगी मानी जाती है। वह दासता जीवन का पतन नही, बल्कि उत्थान करनेवाली होती है। मानवता का विकास

वस्तुत इसी दासता से हो सकता है। जब तक परमपद की प्राप्ति न हो, तब तक स्वामी-सेवक का संबंध बना रहता है, तत्पश्चात् वह स्वत ही सदा के लिए नष्ट हो जाता है। पूज्यजनो का तथा गुणी जनो का दास बनकर उनकी आज्ञा का पालन करना मानवता है।

२६. सख्य

विश्व मैत्री और भगवत्-मैत्री दोनो का समावेश सख्य मे हो जाता है। इससे मानवता का विकास होता है। इस गुण के विकसित होने से शेष सभी गुण स्वय विकसित हो जाते हैं, क्योकि जब किसी के साथ मित्रता का संबंध होता है तब वह उसका न कभी अहित सोचता है और न उसकी कभी बुराई करता है। अत मानवता के विकास मे सख्य भी एक अमोघ उपाय है।

३०. आत्म-समर्पण

मानवो की भलाई के उद्देश्य से मूक एव निरीह प्राणियो की रक्षा आत्म-बलिदान देकर भी करनी चाहिए। गुरु के आगे अपने द्वारा किए गए अपराधो को सरल हृदय से व्यक्त करना, अपनी भूल को शुद्ध हृदय से मान लेना, पुन वैसी भूल न करने के लिए सतत जागरूक रहना आत्म-समर्पण है। यह विशेषता भी मानव मे ही पाई जाती है। अत आत्म-समर्पण करना भी मानवता का एक अभिन्न अग है।

इस प्रकार श्री मद्भागवत् के निर्माता महर्षि व्यास ने मानवता के विकास के लिये उपर्युक्त जिन तीस गुणो का वर्णन किया है, वे ऐसे गुण हैं जो साम्प्रदायिकता की संकीर्णताओं से मुक्त है, सर्व-जनोपयोगी हे, मानव-मात्र के लिये ग्राह्य हैं और जैनत्व के सिद्धान्तो का समर्थन करनेवाले है।

दैवी सम्पत्ति

अभय सत्व - संशुद्धिर्ज्ञानयोग-व्यवस्थिति ।
दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिर-पैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं, मार्दवं ह्री-रचापलम् ॥
तेज क्षमा धृतिश्शौचमद्रोहो नातिमानता ।
भवन्ति सम्पदं दैवी-मभिजातस्य भारत ! ॥

गीता १६-१-३

अर्थात् निर्भयता, भावो की निर्मलता, ज्ञानयोग में मन की स्थिति, सुपात्रदान, इन्द्रिय-दमन, सात्विक यज्ञ, स्वाध्याय, तप, निष्कपटता—

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपिशुनता (चुगली न करना), जीव-मात्र पर दया, अलोभ, हृदय की सुकोमलता, लज्जाशीलता, चपलता से रहित होना—

तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, निर्वैरता, अतिमान का न होना—

उपर्युक्त सभी गुण पवित्रात्मा के साथ ही जन्म लेते है, इन गुणो को दैवी सपत्ति या दिव्य सपत्ति भी कहते है।

जिन गुणो द्वारा देवत्व की उपलब्धि हो या दिव्य सपत्तिया प्राप्त हो उन सभी गुणो को दैवी सपत्ति कहते है, अथवा उच्च देव जब अपनी स्थिति पूर्ण कर के मनुष्य-लोक मे मनुष्यत्व को प्राप्त करता है तब वह जिन गुणो से समृद्ध होता है उसके स्वाभाविक गुणो को दैवी सपत्ति कहा जाता है।

जिस मनुष्य मे ये दिव्य गुण होते है, वह विश्व का कल्याण और उद्धार कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि उक्त दैवी सपत्ति का यथाशक्य सचय करे। इनकी आराधना पालना के लिए किसी भी देश, काल, जाति, सप्रदाय का कोई प्रतिबध नही। इन गुणो को कोई भी व्यक्ति अपने जीवन मे उतार कर अपना उद्धार कर सकता है। अत इन गुणो को सामान्य धर्म कहते है। विशेष धर्म वह कहलाता है जो देश, वेष वर्ण, जाति, काल सप्रदाय आदि की विवक्षा रखता हो।

जैन धर्म सामान्य और विशेष दोनो से अनुरजित है। सामान्य के बिना विशेष नही और विशेष के बिना सामान्य नही दोनो एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

श्रीमद्भागवत् और गीता दोनो पर श्री कृष्ण का प्रभाव है और श्रीकृष्ण त्याग एव सयम के साकार रूप जन-जन के उद्धारक भगवान श्री नेमिनाथ के उपदेशो से प्रभावित हुए थे, अत उनकी वाणी ने मानवता के समुद्धार के लिये सर्वत्र ऐसे ही गुणो का वर्णन किया है जिन पर जैनत्व की स्पष्ट छाप है। प्रस्तुत पुस्तक मे वर्णित ३२ योगो की विस्तृत व्याख्या इसका प्रमाण है।